से रसमग्न होकर देखते थे, उसी चाव से वे लोग इस काल की शृङ्गारिक
ाओं को रस विभोर होकर सुनते थे। यद्यपि समस्त काव्य की प्रसार भूमि

एकाँकी-समुच्चय

सम्पादक
प्रो० जयनाथ 'नलिन' एम० ए०
सनातन धर्म कालिज,
अम्बाला

१९५२
आत्माराम एण्ड सन्स
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
कश्मीरी गेट,
दिल्ली ६

प्रकाशक :
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड सन्स
कश्मीरी गेट,
दिल्ली।

मूल्य तीन रुपया

चाव से रसमग्न होकर देखते थे, उसी चाव से वे लोग इस काल की शृङ्गारिक रचनाओं को रस विभोर होकर सुनते थे। **यद्यपि समस्त काव्य की प्रसार भूमि**

भूमिका

साहित्य, आजकल, विज्ञान की तेजी के समान समृद्ध हो रहा है। साहित्य की चरण-गति जीवन की विभिन्न दिशाओं को अपनी सीमा से मेंमेटरही है। जीवन की विविधताओं और साहित्यिक-विद्याओं की दृष्टि से हिन्दी में प्रसन्न विकास हुआ है। इस बहुमुखी विकास और गौरव-समृद्धि में एकांकी की-देन उल्लेखनीय है। साहित्य की अन्य विद्याओं की अपेक्षा एकांकी की ओर कलाकारों का अधिक झुकाव है। कला की दृष्टि से भी हिन्दी में अनेक सफल सम्पन्न एकांकी उपलब्ध हैं। पहले की अपेक्षा आज का एकांकी स्टेज और अभिनय की पूर्णताओं से सम्पन्न है। एक अंक में अनेक दृश्यों की रचना अब प्रायः बन्द हो चुकी है। एक अंक और एक ही दृश्य में एकांकी पूरा हो जाता है।

रंगमंच का भी अधिक ध्यान इन दिनों रखा जा रहा है। रंग-संकेत केवल रिवाज के रूप में नहीं, अभिनय किये जाने के लिए लिखे जाते हैं। रंग मंच की नवीन कला को भी आजकल विशेष महत्व दिया जाता है। जीवन की सबसे अधिक स्वाभाविकता आजकल एकांकी में लाई जाती है। जीवन के विविध रंग जो आजकल के एकांकी में मिलते हैं, कहानी के सिवा साहित्य के किसी अन्य रूप में नहीं मिलते। एकांकी की सफलता और सम्पन्नता ने उसे सर्वप्रिय भी बना दिया है। रंगमंच की सरलता और अभिनय की सुविधाओं के कारण भी एकांकी बहुत प्रिय हुआ। पूर्ण (अनेकांकी) नाटक ८० वर्ष के जीवन में भी इतना जन-प्रिय न बन सका, जितना ३० वर्ष के जीवन में एकांकी। विश्वविद्यालयों-कालेजों में ही नहीं, स्वतन्त्र अव्यावसायिक कला-मण्डलों में भी एकांकी का अभिनय आजकल होता रहता है। एकांकी की जन-प्रियता के कारण विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में एकांकी को विशेष स्थान दिया जाने लगा है।

हिन्दी के एकांकी-साहित्य-भण्डार में पंजाबी लेखकों की भेंट ऐतिहासिक उल्लेख की अधिकारिणी है। जिस हिन्दी साहित्य के अन्य क्षेत्रों—कहानी, नाटक, उपन्यास,—में पंजाब ने गौरवपूर्ण भेंट चढ़ाई है, एकांकी में भी वह पीछे नहीं—बल्कि इस क्षेत्र में तो यह बहुत आगे है। सर्व श्री सुदर्शन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अश्क, पृथ्वीनाथ शर्मा हिन्दी के प्रथम कोटि के एकांकी-लेखकों में हैं। नवीन प्रतिभाओं में सर्व श्री हरिश्चन्द्र खन्ना और 'दिनेश' ने अपनी रचनाओं से हमें बड़ी आशा बंधाई है। इनके नाटक रेडियो पर भी प्रसारित किये जाते हैं। हरिश्चन्द्र खन्ना के कई एकांकी तो अन्य प्रान्तीय भाषाओं से भी आये हैं। श्री यश ने भी कुछ सफल एकांकी लिखे हैं और उन्हें अवकाश मिले तो वह इस दिशा में काफी सफलता प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार देवदत्त 'अटल' और मदन मोहन 'राकेश' आदि के नाम लिखे जा सकते हैं। हमारे इन सभी कलाकारों के विषय में हिन्दी पाठकों को जानकारी मिलनी चाहिए।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए, यह 'एकांकी-संग्रह' प्रस्तुत किया गया है। प्रयत्न रहा है, प्रत्येक लेखक का श्रेष्ठ एकांकी पाठकों के सामने आये। संग्रह करने में एकांकी की कला को प्रथम स्थान दिया गया है। अधिकतर ऐसी ही रचनाएँ इस संग्रह में आई हैं जिनका अभिनय भी किया जा सके और पढ़कर भी रस ग्रहण किया जा सके। साथ ही यह संग्रह नवीन लेखकों के लिए प्रेरक बन सके, इस बात की उपेक्षा नहीं की गई।

आशा है, इससे पाठकों को पंजाब की कला-प्रतिभा का आभास मिल सकेगा।

सनातन धर्म कालेज,
अम्बाला कैन्ट।

जयनाथ 'नलिन'

व से रसमग्न होकर देखते थे, उसी चाव से वे लोग इस काल की शृङ्गारिक नाओं को रस विभोर होकर सुनते थे। यद्यपि समस्त काव्य की प्रसार भूमि

राजपूत की हार

(श्री सुदर्शन)

पात्र-परिचय

महामाया—जसवन्तसिंह की रानी ।
जसवन्तसिंह—जोधपुर के राणा साहब ?
कुलीना—जसवन्तसिंह की माता ।
अचलसिंह—नगर रक्षक ।

स्थान—जोधपुर के किले का एक कमरा।
समय—दिन के दस बजे।

(महामाया और कुलीना बातें कर रही हैं ।)

महामाया—नहीं, माँ ! नहीं, मेरा दिल अभी तक अशान्त है । मैं कुछ नहीं कर सकती ।

कुलीना—आठ दिन बीत गए हैं, परन्तु तेरा मन अभी तक अशान्त है । यह तेरा पागलपन है ।

महामाया—ठीक है, मैं ही पागल हूँ। (ठंडी साँस लेकर) वह तुम्हारा बेटा है। तुम उस की माँ हो। तुम उस से क्या कह सकती हो। और मैं पराए घर की बेटी हूँ, मैं ही पागल हूँ ।

कुलीना—(प्यार से)—मेरी बेटी ! जो कुछ भी हो, वह तेरा पति है।

महामाया—मगर वह कायर है। उसने दुश्मन को पीठ दिखाई है। वह प्राण बचाने के लिए रण-क्षेत्र से भागा है । माँ ! जरा सोचो, लोग अपने-अपने घर में हमारे बारे में क्या कहते होंगे ! मेरी सखियाँ, जो मेरा भाग्य सराहती थीं, आज मेरे दुर्भाग्य पर शोक कर रही होंगी।

कुलीना—महामाया। मेरी बच्ची !

जो वीरात्मा है, वह हार सकता है, हारकर जीता नहीं रह सकता उसके लिए पराजय और मृत्यु एक ही वस्तु के दो नाम हैं ।

कुलीना—मेरा बेटा सचमुच बड़ा बहादुर था। न जाने आज उसे क्या होगया ?

महामाया—(उन्मत्त भाव से)—कुछ नहीं हुआ माँ ! वे आज भी उसी तरह बहादुर हैं। वे लड़ते-लड़ते वीर-गति को प्राप्त हो चुके हैं, और यह नराधम, नरक का कीड़ा, जो हमारे द्वार पर पड़ा है, उनके कपड़े चुराकर और डाकुओं को लेकर हमें धोखा देने आया है ।

कुलीना—(आकाश की ओर देखकर) काश, तुम्हारा ख्याल ठीक होता !

महामाया—(आश्चर्य से)—ठीक होता ! तो क्या तुम्हें भी सन्देह है! क्या तुम भी उनको इतना पतित समझती हो ? नहीं माँ, नहीं। वे युद्ध में मारे जा चुके हैं, मैं अब विधवा हो चुकी हूँ। नौकरों से कहिए, चिता चुनादें, मैं उनका नाम लेते-लेते सती हो जाऊँगी ।

कुलीना—(महामाया को गले से लिपटाकर रोते हुए)—मेरी बच्ची! तुझे क्या हो गया है ?

महामाया—(सुनी अनसुनी करके)—वह स्वर्ग में मेरी बाट जोह रहे होंगे। झुक-झुक कर नीचे की तरफ देखते होंगे। मेरे बिना घबरा रहे होंगे। आज्ञा दो माँ ? (हाथ बांधकर) वे क्षात्र-धर्म का पालन कर चुके, अब मेरी नारि-धर्म पालन करने की बारी है (ऊंची आवाज से) मालती! वीरा !! शक्ति !!

(तीनों सहेलियों का सिर झुकाए हुए प्रवेश)

महामाया—(बिना उनकी तरफ देखे धीरे-धीरे)—चन्दन की लकड़ियाँ मंगवाकर चिता चुन दो........मेरे सारे बढ़िया कपड़े, अनमोल आभूषण ले आओ——मैं उनसे मिलने जा रही हूँ । मैं आज आग के उड़न-खटोले पर सवार होऊँगी।

(सहेलियाँ पहले घबरा जाती हैं, फिर एक-दूसरे की तरफ देखती हैं । इसके बाद कुलीना की तरफ देखती हैं।)

ाव से रसमग्न होकर देखते थे, उसी चाव से वे लोग इस काल की शृङ्गारिक
चनाओं को रस विभोर होकर सुनते थे। यद्यपि समस्त काव्य की प्रसार भूमि

(५)

कुलीना—पागल हो गई है?

महामाया—(चौंककर) कौन पागल है? (फिर स्वयं ही उत्तर देती ।) वही, जो मेरे पति के भेष में मुझे ठगने के लिये आया है। (कुछ देर चुप रहने के बाद) सचमुच वह पागल है, जो समझता है कि मैं भेष और शक्ल-सूरत से धोखा खा जाऊँगी। यह उसकी भूल है। मैंने पहचान लिया, यह कोई और आदमी है, यह महाराणा जी नहीं हैं। (झूमते हुए) यह महाराणा जी नहीं हैं। किसी से पूछ लो।

कुलीना—मेरी बेटी! मेरी प्यारी बच्ची!!

महामाया—(कटार निकालकर) अच्छा, पहले चलकर उसे उसी की कसौटी पर परख लूँ। मालती! वीरा!! शक्ति!!! जाओ। जाकर दुर्गरक्षक से कहो, दरवाजा खोल दे, मैं यह कटार उसकी छाती में भोंक दूँगी। अगर राणा जी होंगे, मेरे कर्तव्य-पालन की प्रशंसा करेंगे। अगर कोई लम्पट होगा, कटार देखकर चिल्लाता हुआ भाग जाएगा। मालती! वीरा! शक्ति!!!

शक्ति—महारानी जी! क्या आज्ञा है?

महामाया—चिता तैयार हुई या नहीं? राजपुरोहित आया या नहीं? मेरे आभूषण कहाँ हैं? तुम विलम्ब कर रही हो, राणा जी रुष्ट हो रहे होंगे।

शक्ति—(कुलीना से) राजमाता! आपने देखा, इनको क्या हो गया?

कुलीना—इनको पकड़कर शयनागार में ले चलो, और वैद्यराज से कहो, अभी आकर औषधि दें! मैं अभी आती हूँ।

(सहेलियों का महामाया को सहारा देकर ले जाना और अचलसिंह का प्रवेश)

कुलीना—अचलसिंह! कोई नवीन समाचार है?

अचलसिंह—रात चार घायल सिपाही और मर गए। महाराणा के ज़खम अभी तक नहीं भरे।

कुलीना—महाराणा क्या महामाया से बहुत नाराज हैं?

अचलसिंह—नाराज़ नहीं, उदास हैं। उनको अपने ऊपर

क्रोध है। कल कई घंटे रोते रहे हैं, उनको सारी रात नींद नहीं आई। अगर आज्ञा हो तो किले का दरवाज़ा खोल दिया जाए। आखिर कब तक बाहर पड़े रहेंगे?

कुलीना—मैं क्या कर सकती हूँ, महामाया नहीं मानती।

अचलसिंह—आप जो चाहें, कर सकती हैं। किले में कौन है, जो आपकी आज्ञा न माने?

कुलीना—महारानी महामाया है। मैं कुछ नहीं कर सकती।

अचलसिंह—आप राजमाता हैं, आप सब कुछ कर सकती हैं।

कुलीना—राजमाता बीते हुए कलकी रानी है। आज की रानी माहामाया है, उसके सम्मुख मैं भी सिर नहीं उठा सकती।

अचलसिंह—मगर उन्होंने कभी आपकी किसी बात का विरोध नहीं किया।

कुलीना—यह उसकी कृपा है।

अचलसिंह—सामन्तों की सम्मति है, आप उनको विवश करके दरवाज़ा खुलवा दें।

कुलीना—यह मेरी भूल होगी।

अचलसिंह—तो फिर क्या आज्ञा है?

कुलीना—(सोचकर)—माहामाया को होश आ जाए, तो मैं उससे पूछूँगी। इस समय तुम जाओ, दो तीन घण्टे बाद आना।

दूसरा दृश्य

स्थान—उसी किले का दूसरा कमरा।

समय—दोपहर।

[महामाया एक पलंग पर लेटी है, पास सहेलियाँ शक्ति, वीणा, मालती बैठी हैं। सिर की ओर दवा की शीशियाँ रखी हैं। महामाया चुपचाप छत की तरफ देख रही है। उसके कपोलों पर आँसू बह रहे हैं। सहेलियाँ रूमाल से आँसू पोंछ रही हैं।]

शक्ति—महारानी! रोने से क्या हो जाएगा! धीरज धरिए। यह [illegible] है।

(७)

महामाया—(ठण्डी आह भरकर) शक्ति ! यह साधारण बात नहीं है। मुझसे मेरा गौरव छिन गया, मेरे हृदय में उनके लिए जो श्रद्धा थी वह जाती रही। मैं अपनी दृष्टि में आप ही गिर गई हूँ, यह साधारण बात नहीं है।

शक्ति—मगर महारानी। युद्ध में हार-जीत दोनों की सम्भावना है। किसी न किसी को तो हारना पड़ेगा। दोनों नहीं जीत सकते।

महामाया—हार की सम्भावना है, मगर हारकर माँ की गोद में भाग आने की सम्भावना नहीं है, और वह भी एक राजपूत के लिए ! ओह शक्ति ! तुम नहीं जानती, मेरा रुधिर जल रहा है। जी चाहता है, किले की सब स्त्रियाँ चलें और दीवार पर से तीर बरसा-बरसा कर उन भगोड़ों का काम तमाम कर दें। उनको पता लग जाए कि जब राजपूत युद्ध में हारकर घर को लौटते हैं, तो उनकी स्त्रियाँ, उनकी बहनें, उनकी माताएँ उनका स्वागत किस तरह करती हैं। जी चाहता है, हम उनको बता दें कि ऐ नामर्दो ! तुमने अपना कर्त्तव्य भुला दिया है। मगर तुम्हारे घर की देवियों में यह भाव अभी तक जिन्दा है। (जोश में उठकर बैठ जाती हैं) जी चाहता है, हम उनको बता दें कि जो राजपूत युद्ध से हारकर घर की तरफ भागता है, उसके घर की स्त्रियाँ उसकी गर्दन काटने के लिए, उसके घर के दरवाजे पर नंगी तलवार लेकर खड़ी हो जाती हैं।

शक्ति—(लिटाते हुए) लेट जाइए। आप के लिए यह जोश हानिकारक है।

महामाया—परन्तु उस कायर के लिए हानिकारक नहीं है। (थोड़ी देर के बाद) वीरा ! क्या दुर्गरक्षक ने दरवाजा खोल दिया ?

वीरा—आपकी आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है ?

महामाया—यह मेरी आज्ञा न थी, माँ जी का आदेश था, वर्ना मैं उनका दरवाजा कभी न खोलती। (एकाएक चिल्लाकर) वीरा। शक्ति !! मालती !!! उठो, दौड़ कर जाओ। दुर्गरक्षक से कहो, दरवाजा न खोलें, मैंने अपनी सम्मति बदल दी।

मालती—दरवाजा खुल चुका, वे कभी के अन्दर आ चुके ।

महामाया—अब भी जाओ, मेरा मुंह क्या देख रहे हो? (मिन्नत से) अब भी जाओ, और उन सब भगोड़ों को धक्के मार-मार कर किले से बाहर निकाल दो, वर्ना इस पवित्र दुर्ग की पावन—भूमि अपवित्र हो जायगी। (एका-एक कुलीना का प्रवेश)

कुलीना—नहीं मेरी बहादुर बच्ची। तेरे किले के अन्दर आकर उनकी सोई हुई आत्मा जाग उठेगी।

महामाया—माँ! तूने क्या कहा? (उठकर सास के गले से लिपट जाती है।) फिर कहो, माँ, फिर कहो, उनकी सोई आत्मा जाग उठेगी। मैं इस एक क्षण के लिए अपना सर्वस्व लुटा देने के लिए तैयार हूँ। मैं अपना राज दे सकती हूँ, मैं अपना जीवन दे सकती हूँ, मैं अपने जीवन को उल्लास और प्रकाश से खाली कर सकती हूँ। किसी तरह उनकी आत्मा जाग उठे। फिर से वैसे ही वीर, वैसे ही निर्भय बन जाएँ। मैं और कुछ नहीं चाहती।

कुलीना—तुम मुझ पर विश्वास करो, मैं उसको सचेत कर दूँगी।

महामाया—मैं आपके कहने पर मरने को तैयार हूँ।

कुलीना—(बात का रुख बदलकर) तुमने दवा पी या नहीं?

महामाया—(सिर झुकाकर) अभी नहीं।

कुलीना—मालती! दवा दो, यह पगली आत्महत्या करने पर तुली हुई है।

(मालती दवा पिला देती है।)

अब जसवन्तसिंह आ रहा है, उसका अपमान न करना। थका हुआ है, कई रातों का जागा हुआ है। हारकर आया है, क्रोध में होगा। दरवाजे पर पड़ा रहा है, लज्जित होगा। तुम्हारे कटु वचनों से और भी बिगड़ जाएगा। तुम्हारी दो मीठी बातों से उसे सारे कष्ट भूल जाएँगे।

महामाया—(बेबसी से) माँ! मुझे कत्ल कर दो, मगर यह न कहो। मुझ से यह न होगा। मेरे हृदय में घृणा की आग जल रही है।

व से रसमग्न होकर देखते थे, उसी चाव से वे लोग इस काल की शृङ्गारिक

(६)

कुलीना—आज सायंकाल से पहले-पहले वह फिर लड़ने को चला जाएगा। (महामाया के सिर पर स्नेह से हाथ फेरकर) वह स्वभाव से योद्धा है, इस क्षणिक जीवन में प्रेम का भाव ज्यादा देर तक स्थिर नहीं रह सकता।

महामाया—(आशापूर्ण स्वर से)—आज सायंकाल से पहले-पहले फिर लड़ने को चले जाएँगे, यह कौन कहता है ?

कुलीना—मैं।

महामाया—आप इन शब्दों का अर्थ समझती हैं ?

कुलीना—(हाथ बाँधकर) मेरा अपराध क्षमा हो, मेरा तात्पर्य यह कभी नहीं था।

कुलीना—चलो लड़कियो ! वह कमरा खाली कर दो (सहेलियों का चला जाना) ले मेरी बच्ची ! वह आ रहा है, उससे अच्छी तरह पेश आना, और कहना—रसोईघर में चलिए, मेरी श्रद्धा है। अपने हाथ से हलवा बनाऊँ और आपको अपने सामने बैठाकर खिलाऊँ।

महामाया—मैं हलवा बनाकर खिलाऊँगी ! नहीं यह मुझ से न होगा, माँ !

कुलीना—यह उसके मानसिक रोग की अमोघ औषधि है।

महामाया—(आश्चर्य से)—हलवा !

कुलीना—यह हलवा उसके गले के नीचे न उतरेगा। वह इसे केवल एक बार देखेगा और घोड़े पर चढ़कर किले के बाहर निकल जाएगा। मैं उस भूले हुए शेर-बच्चे को शीशे के सामने लेजाकर मुँह दिखा देना चाहती हूँ।

महामाया—फिर इस हलवा का क्या होगा ?

कुलीना—पुत्र के पुनरुत्थान के उपलक्ष्य में किले की स्त्रियों में बाँटा जाएगा।

(कुलीना हँस कर चली जाती है।)

महामाया—भगवान उनकी आँखें खोल दे, नहीं तो मेरा जीवन मेरे लिए असह्य हो जाएगा।

(महाराणा जसवन्तसिंह धीरे-धीरे प्रवेश करते हैं। उनके सिर और भुजाओं पर पट्टियाँ बंधी हैं, मुँह का रंग पीला है, आँखों में लज्जा है। पति और पत्नी दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं और चुप रहते हैं। इसके बाद राणा पलंग पर बैठ जाते हैं, महामाया पास आ जाती है।

जसवन्तसिंह—(जमीन की ओर देखते हुए)—महामाया! यह पराजय जीवन-भर न भूलूँगा।

महामाया—(तीखी दृष्टि से देखकर)—खैर, यह साधारण बात है। प्राण बच गए, यही बड़ी बात है! प्राणरक्षा राजपूत का सर्व प्रथम धर्म है!

जसवंतसिंह—मैंने अपनी तरफ से पूरा-पूरा यत्न किया, परन्तु मेरी कोई पेश न गई।

महामाया—सत्य है, असहाय मनुष्य क्या कर सकता है?

जसवंतसिंह—(महामाया की बात को न समझकर जरा साहस से)—मनुष्य प्रारब्ध के हाथ का खिलौना है। वह उसे जिधर चाहता है, उठा कर फेंक देता है।

महामाया—मनुष्य की इस से अच्छी परिभाषा मैंने आज तक नहीं सुनी। कहिए, जख्मों का क्या हाल है?

जसवंतसिंह—इस से तुम्हें क्या? तुमने अपनी तरफ से मेरा अपमान करने में कोई और—कसर नहीं उठा रखी।

महामाया—आपने भूल की, आप को आगे न बढ़ना चाहिए था। लड़ने के लिए सेना होती है, सेनापति को पीछे रहना चाहिए। उसका संकट में पड़ना उसकी मूर्खता है।

जसवंतसिंह—(क्रोध से)—मालूम होता है, तुम मेरी हँसी उड़ा रही हो!

महामाया—राम, राम! मुझ में यह साहस कहाँ कि आप जैसे विश्वविजयी की हँसी उड़ा सकूँ?

जसवंतसिंह—तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मैं तुम्हारा पति हूँ और ... का महाराणा हूँ।

ाव से रसमग्न होकर देखते थे, उसी चाव से वे लोग इस काल की शृङ्गारिक

(११)

महामाया—(तिलमिला कर) आप को भी मालूम होना चाहिए कि में वीर पिता की बेटी हूँ, और मुझे निज्जर्लता पूर्ण जीवन से घृणा है

जसवंतसिंह—तो क्या तुम चाहती हो कि मैं वहाँ मर जाता ?

महामाया—यह मेरे कुल के गौरव की बात होती।

जसवंतसिंह—मुझे यह पता न था कि तुम्हें विजय इतनी प्यारी है।

महामाया—मुझे विजय नहीं, आन प्यारी है। आन के सामने सब संसार को तुच्छ समझती हूँ।

जसवंतसिंह—घर में बैठी बातें करती हो, एक बार युद्ध में चली जाओ; तो होश ठिकाने आ जाएँ।

महामाया—पहले पुरुष चूड़ियाँ पहन लें फिर स्त्रियाँ घर में रह जाएँ तो नाक कटा दूँ।

(कुलीना का हँसते हुए प्रवेश)

कुलीना—(महामाया को आँख का इशारा करके)—क्यों बेटा आते ही वाग्युद्ध प्रारंभ कर दिया। तुम बड़ी मूर्खा हो। हठो, रसोईघर में चलकर अपने हाथ से हलवा बनाओ। मेरा बेटा समर से जीत लौटा है। आज मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।

जसवंतसिंह—माँ ! तुमने सुना, यह स्त्री अभी-अभी क्या कह रही थी ? जी चाहता है—

कुलीना—बेटा ! शान्त हो। यह तो गंवार है। तू चलकर रसोई में बैठ।

जसवंतसिंह—नहीं माँ, मैं इसके साथ वहाँ कभी न जाऊँगा। उफ कितना हृदयहीन है, कहती है—

महामाया—(तड़पकर) क्या कहती हूँ ?——

कुलीना—(बात काटकर)—चुप बहू। आज का दिन तुम्हारा यह झगड़ा नहीं देख सकती। उठो, चलकर रसोई में बैठो, मगर सावधान ! कोई लड़ाई-झगड़े की बात न करे। आज खुशी का दिन है

तीसरा दृश्य

स्थान—उसी महल का रसोईघर।

समय—दोपहर।

(महामाया हलवा बना रही है। महाराणा किसी गहरी चिन्ता में निमग्न सामने बैठे हैं। महामाया उनकी तरफ देखती है, और उसकी आँखों में चिन्गारियाँ निकलने लगती हैं। साफ मालूम होता है कि उसके हृदय में उथल-पुथल मच रही है।)

महाराणा—सिपाहियों की मरहम पट्टी हो रही है क्या ?

महामाया—(रुखाई से) हो रही होगी ? मैंने आज्ञा दे रखी है।

महाराणा—(थोड़ी देर चुप रहने के बाद) देखता हूँ, तुम्हारा क्रोध अभी तक नहीं उतरा।

महामाया—(भुने हुए आटे में चीनी की चाशनी डालते हुए) उतरे या न उतरे, इसकी आप को क्या परवाह है ?

महाराणा—तुम्हारे क्रोध की मुझे परवाह नहीं तो और किसे है ? मैंने अपनी अनुपस्थिति में किले का सारा भार तुम्हारे सुपुर्द कर दिया था। तुमने आदेश किया, हम द्वार पर रोक दिये गए, यह मेरा घोर अपमान था, मगर मैंने तुम से एक शब्द भी नहीं कहा, क्योंकि मैं तुम्हारी नेकनीयती स्वीकार करता हूँ। तुम फिर भी कहती हो, मुझे तुम्हारी परवाह नहीं। (हँसकर) चलो, अब जाने दो, जो हो गया, सो हो गया और यह कोई ऐसी बात नहीं, जिस के लिए—

महामाया—(कड़ाई में कलछी चलाती रही) आप के लिए यह साधारण बात होगी। मेरे लिए यह दिन मेरे जीवन का सब से बुरा दिन है।

महाराणा—(तेज होकर)—तो आखिर तुम क्या चाहती थीं ? मैं मर जाता, तो तुम खुश हो जातीं ?

महामाया—कायरों के लिये मरना बड़ा कठिन है। वह मौत को देखकर दूर ही भाग निकलते हैं।

(चूल्हे में लकड़ी डालती है।)

व से रसमग्न होकर देखते थे, उसी चाव से वे लोग इस काल की शृङ्गारिक

(१३)

महाराणा—महामाया ! तुम्हारा एक-एक शब्द विष में बुझा हुआ तीर है ।

महामाया—युद्ध से भागकर आये हुए लोगों को मीठे वचन सुनने का कोई अधिकार नहीं !

(फिर हलवा बनाने में लीन हो जाती है ।)

महाराणा—महामाया ! महामाया

महामाया—(कपड़े से कढ़ाई के दोनों सिरे पकड़कर) मीठे वचन नहीं तो क्या हुआ, मीठा हलवा तो है । यह पराजय का पुरस्कार है, पेट भर कर खाइए । (कढ़ाई नीचे उतारकर पति के मुँह की तरफ देखती है ।) *एक दिन वह था, जब इज्जत की बाजी हारकर राजपूत किसी को मुँह* न दिखा सकता था । आज समय कितना बदल चुका है । माता प्रसन्न होती है, स्त्री हलवा बनाती है और भागा हुआ पति रसोई में बैठकर मीठी-मीठी बातें सुनना चाहता है । उसे यह बात भूल गई कि युद्ध के अवसर पर विलासिता की बातें करना देश और जाति के लिए महान पाप है ।

(कलछी लेने के लिए इधर-उधर देखती है ।)

महाराणा—मैं चाहता हूँ, तुम पुरुष होतीं ।

महामाया—मैं चाहती हूँ, आप स्त्री होते ।

(कढ़ाई में जोर-जोर से कलछी चलती है, इसकी आवाज सुनकर कुलीना घबराई हुई प्रवेश करती है ।)

महामाया ! यह किस चीज की आवाज है—यह तुम क्या कर रही हो ?

महामाया—(आश्चर्य से)—कढ़ाई में कलछी चला रही हूँ, माँ जी

कुलीना—अरी बेटी ! कलछी बाहर निकाल, नहीं अन्धेर हो जाएगा

महामाया—(और भी चकित होकर)—माँ ! इस से क्या अन्धेर हो जाएगा, मैं कुछ भी नहीं समझी ।

(महामाया थाल में हलवा डाल देती है ।)

कुलीना—काहे को समझोगी ? जैसे अभी तुम दूध पीती बच्ची हो

जैसे कुछ जानती ही नहीं। क्या तुम्हें मालूम नहीं की लोहे से लोहा बजते देखकर मेरा बेटा मेरी गोद में छिपने के लिए यहाँ भागकर आया है। क्या तुम उसे यहाँ से भी भगाना चाहती हो? बेटा! अब वह कहाँ जाएगा, यहाँ से भागकर उसे आश्रय पाने को स्थान कहाँ मिलेगा? परमेश्वर के लिये यह लोहे की कलछी बाहर फेंक दो। कहीं ऐसा न हो, वह फिर लोहे की कढ़ाई से टकरा जाए, और मेरा बेटा डरकर यहाँ से भी भाग निकले, फिर मैं क्या करूँगी?

(महामाया का मुँह चमकने लगता है, मगर वह अपनी खुशी छिपाती है, और हलवे से थाल भरकर पति के सामने रख देती है। महाराणा कुछ देर चुप रहते हैं, इसके बाद थाल को परे सरका देते हैं और जोश से तनकर खड़े हो जाते हैं।)

महाराणा—बस कर, माँ बस कर। तूने आँखें खोल दी हैं, तूने मुझे जगा दिया है, तूने अन्धेरे से निकालकर ज्योति और जीवन के पथ पर डाल दिया है। कितनी लज्जा और शोक की बात है कि राजपूत का बच्चा पराजित होकर भाग आए। भगवान्, जाने, मुझे क्या हो गया था। मुझे कहीं कट-मर जाना चाहिए था! परन्तु—

(महामाया पति की तरफ श्रद्धापूर्ण प्रेम से देखती है।)

तुम्हारा कहा-सुना व्यर्थ नहीं गया। मैं अपनी कायरता के लिए तुम से क्षमा माँगता हूँ।

कुलीना—बेटा! तू अब फिर वही निर्भय, युद्धवीर, साहसी जसवन्तसिंह है, जिसने मेरा दूध पिया था, जिसने कुल का नाम उज्जवल करने का व्रत लिया था, जिसके मुँह की ओर देखकर मेरी मुरझाई हुई आशाएँ हरी हो जाती हैं। महामाया खुश हो, तेरा स्वामी अपनी पराजय के काले दाग को मिटाने के लिए खड़ा हो गया है।

महामाया—यह सब आप ही की कृपा है।

महाराणा—माँ! तुम पर गर्व है, और इस पर भी गर्व है। तुम दोनों ने मिलकर मेरी आँखें खोल दी हैं। हमारी आने वाली सन्तान यह सुनकर खुशी से पागल हो जाएगी कि उनका एक पूर्वज परा-

(१५)

जित होकर घर आया, तो उसकी पत्नी ने उसे घर के अन्दर आने की आज्ञा न दी। राष्ट्रीय-गौरव और अभिमान का ऐसा उज्जवल, ऐसा ओजमय दृष्टान्त मानव-जाति के इतिहास में किसी ने कम ही पढ़ा होगा। इस भारतवर्ष को अपना सिर ऊँचा उठाने का अवसर मिलेगा। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे ऐसी धर्म-परायण स्त्री मिली, जिसको मेरी मर्य्यादा मेरे प्राणों से भी प्यारी है।

महामाया—(सिर झुकाकर धीरे से) माँ ! इन से कहो, मेरे अपराध क्षमा कर दें।

महाराणा—तेरा अपराध हमारे कुल का सब से बड़ा गौरव है। (माँ की तरफ देखकर) मगर माँ! मैं राजपूत हूँ, और राजपूत इतना आत्मगौरव रहित कभी नहीं होता, मुझे बता मेरी इस कायरता का मूल कारण क्या है ?

कुलीना—यह तेरा नहीं, मेरा दोष है। (दोनों चौंक पड़ते हैं।) (कुलीना धीरे-धीरे कहती है, जैसे कोई भूली हुई घटना याद कर रही हो।) यह उन दिनों की बात है, जब तेरी आयु केवल दो वर्ष की थी। एक दिन मैं भोजन बना रही थी और तेरे पिता जी इसी रसोई घर में इसी स्थान पर बैठे भोजन कर रहे थे। एकाएक तू रोकर दूध के लिए मचलने लगा। मैंने सोचा, मेरी देह गर्म है, अगर तूने दूध पिया तो बीमार हो जाएगा, इसलिए मैंने दासी से कहा इसे बाहर ले जाकर चुप करा। मगर तू बराबर रोता रहा।

महाराणा—फिर ?

कुलीना—दासी ने तुझे चुप कराने के लिए अपना दूध पिला दिया। आध घंटे बाद मुझे यह बात मालूम हुई, तो मैंने तेरे गले में अँगुली डालकर कै करा दी, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है दूध की दो-एक बूँदें फिर भी तेरे पेट में रह गई। दासी के दूध की बूँदें आज इस पतन के रूप में प्रकट हुई हैं। यह तेरा दोष नहीं, उसी दूध का प्रभाव है।

महाराणा—'अस्तु' जो कुछ भी हो, इस कायरता के कलङ्क को मैं अपने लहू से भी धोने के लिए तैयार हूँ, अब तुमको यह शिकायत न

रहेगी। कोई है, मेरी तलवार और कवच लाओ, सेना से कहो, तैयार हो जाए।

कुलीना—देवता वह दिन दिखाएँ, जब मेरा बेटा विजयपताका उड़ाता हुआ घर आए।

(कुलीना चली जाती है। महामाया धीरे-धीरे आकर महाराणा के पास खड़ी हो जाती है। फिर सिर उठा कर उनकी तरफ देखती है और मुस्कराती है।)

महामाया—आप ने मेरा अपराध क्षमा किया ?

महाराणा—तुम्हारा अपराध मेरे जीवन की सबसे बड़ी-सम्पत्ति है।

महामाया—अब आप मुझसे रुष्ट तो नहीं हैं ?

महाराणा—तुम से रुष्ट होने का यह अर्थ है कि मुझ-सा मूर्ख इस राज्य में कोई नहीं है। तू स्त्री नहीं है, देवी है। मेरी दृष्टि में तू इतनी पवित्र, इतनी उज्जवल कभी न थी। (थोड़ी देर के बाद) देवी ! अब आज्ञा दो, सेना तैयार होगी।

महामाया—इतनी जल्दी ! क्या आप कल नहीं जा सकते ? एक दिन विश्राम कर लीजिए।

(महाराणा की तरफ प्यार से देखती है, और अपना सिर उनके कन्धे-पर रख देती है।)

महाराणा—(मुस्कराकर) युद्ध के अवसर पर विलासिता की बातें करना देश और जाति के लिए महान् पाप है।

महामाया—(चौंक उठती है।) अच्छा हलवा तो खा लीजिए, (लजाकर) आपकी प्यारी महामाया ने आप के लिए अपने हाथ से बनाया है।

महाराणा—(फिर महामाया के शब्द दोहराते हैं।) क्या यह पराजय का पुरस्कार है। (मुस्कराकर) मैं कैसा भाग्यवान् हूँ कि हारकर भी ऐसी मीठी चीजें मिल रही हैं। महामाया ! तूने मेरी आँखें खोल दी हैं, तूने मुझे सीधा मार्ग दिखा दिया है। तूने मुझे भूला हुआ कर्तव्य स्मरण करा दिया है। अब वही तू मेरे सामने अपना असीम प्रेम और

से रसमग्न होकर देखते थे. उसी चाव से वे लोग इस काल की श्रृङ्गारिक

(१७)

हृदयग्राही मुसकान लेकर क्यों खड़ी हो गई है ? यदि अब मुझ में फिर निर्बलता आगई, तो यह मेरा नहीं, तेरा दोष होगा। (ठहरकर) तो मेरे हृदय की रानी! अब आज्ञा है जाऊँ ?

महामाया—हाँ प्राणनाथ! जाइए और विजय के डंके बजाते हुए आइए। वहाँ समर-स्थल में मेरा प्रेम आपकी रक्षा करेगा।

(महाराणा का तेजी से चले जाना)

महामाया—(उदास होकर) चले गये। मैंने उनको ताने दे-दे कर फिर भेज दिया। (आसमान की तरफ देखकर) प्रभो! उनकी रक्षा करो! जिस तरह खुश-खुश गये हैं, उसी तरह खुश-खुश वापस आएँ।

(कुलीना का प्रवेश)

कुलीना—वीर-वधू तू अब यहाँ खड़ी क्या सोच रही है ? पगली! उदास हो गई। नहीं, तुझे यह उदासी, यह हृदय की निर्बलता नहीं सुहाती। तू सबला है, तेरा पति सच्चा वीर है। चल उठ, यह हलवा सिपाहियों के घरों में बाँट आएँ। इसके बाद सेना को विदा करना है।

(पर्दा गिरता है)

२

लक्ष्मी का स्वागत

(श्री उपेन्द्रनाथ अश्क)

पात्र-परिचय

रौशन—एक शिक्षित युवक।
सुरेन्द्र—उसका मित्र।
भापी—उसका छोटा भाई।
पिता—रौशन का बाप।
माँ—रौशन की माता।
अरुण—रौशन का बीमार बच्चा।

स्थान—जिला जालन्धर के इलाके में मध्य श्रेणी के एक मकान का दालान।
समय—नौ-दस बजे सुबह।

(दालान में सामने की दीवार से मेज लगी है, जिसके इस ओर एक पुरानी कुर्सी पड़ी है। मेज पर बच्चों की किताबें बिखरी पड़ी हैं। दीवार के दाएँ कोने में एक खिड़की है, जिसपर मामूली छींट का पर्दा लगा है। बाएँ कोने में एक दरवाजा है, जो सीढ़ियों में खुलता है। दाईं दीवार में एक दरवाजा है, जो कमरे में खुलता है; जहाँ इस वक्त रौशन का बच्चा अरुण बीमार पड़ा है।

दीवारों पर बिना फ्रेम के सस्ती तस्वीरें कीलों से जड़ी हुई हैं। छत पर काग़ज का एक पुराना फ़ानूस लटक रहा है।

पर्दा उठने पर सुरेन्द्र खिड़की में से बाहर की तरफ देख रहा है। बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही है। हवा की साँय-साँय और मेंह के थपेड़े सुनाई देते हैं।

कुछ क्षण बाद वह खिड़की का पर्दा छोड़कर कमरे में घूमता है, फिर

जाकर खिड़की के पास खड़ा हो जाता है—और पर्दा हटाकर बाहर देखता है।

दाईं ओर के कमरे में रौशनलाल दाखिल होता है।)

रौशन—(दरवाजे को धीरे से बन्द करके) डाक्टर अभी नहीं आया ?

सुरेन्द्र—नहीं।

रौशन—वर्षा हो रही है।

सुरेन्द्र—मूसलाधार ! इन्द्र का क्रोध अभी शान्त नहीं हुआ

रौशन—शायद ओले पड़ रहे हैं !

सुरेन्द्र—हाँ, ओले भी पड़ रहे हैं।

रौशन—भाभी पहुँच गया होगा ?

सुरेन्द्र—हाँ, पहुँच ही गया होगा। यह वर्षा और ओले ! बाजारों में घुटनों तक से कम पानी नहीं होगा।

रौशन—लेकिन अब तक उन्हें आ जाना चाहिए था। (स्वयं बढ़कर खिड़की के पर्दे को हटाकर देखता है, फिर पर्दा छोड़कर वापस आता है) अरुण की तबियत गिर रही है।

सुरेन्द्र—(चुप)

रौशन—उसकी साँस जैसे हर घड़ी रुकती जा रही है, उसका गला जैसे बन्द होता जा रहा है; उसकी आँखें खुली हैं; पर वह कुछ कह नहीं सकता, बेहोश-सा असहाय-सा चुपचाप बिटर-बिटर ताक रहा है। आँखें लाल और शरीर गर्म है। सुरेन्द्र, जब वह साँस लेता है तो उसे बड़ा ही कष्ट होता है। मेरा कलेजा मुँह को आ रहा है। क्या होने को है, सुरेन्द्र !

सुरेन्द्र—हौसला करो ! अभी डाक्टर आ जायगा। देखो, दरवाजे पर किसी ने दस्तक दी है।

(दोनों कुछ क्षण तक सुनते हैं। हवा की सांय-सांय)

रौशन—नहीं, कोई नहीं, हवा है।

सुरेन्द्र—(सुनकर) यह देखो, फिर किसी ने दस्तक दी।

(रौशन बढ़कर खिड़की में देखता है, फिर वापस आजाता है।)

रौशन—सामने के मकान का दरवाजा खटखटाया जा रहा है।

(बेचैनी से कमरे में घूमता है। सुरेन्द्र कुर्सी से पीठ लगाए छत में हिलते हुए फ़ानूस को देख रहा है।)

—सुरेन्द्र, यह मामूली बुखार नहीं, यह गले की तकलीफ साधारण नहीं, मेरा तो दिल डर रहा है, कहीं अपनी माँ की तरह अरुण भी तो धोखा न दे जायगा ? (गला भर आता है।) तुमने उसे नहीं देखा, साँस लेने में उसे कितना कष्ट हो रहा है !

(हवा की सांय-सांय और मेंह के थपेड़े)

—यह वर्षा, यह आँधी, यह मेरे मन में हौल पैदा कर रहे हैं। कुछ अनिष्ट होने को है। प्रकृति का यह भयानक खेल, यह मौत की आवाजें...

(बिजली जोर से कड़क उठती है। दरवाजा जरा-सा खुलता है। माँ झांकती है।)

माँ—रौशन, दरवाजा खोलो। आओ, देखो शायद डाक्टर आया है।

(दरवाजा बन्द करके चली आती है।)

रौशन—सुरेन्द्र....

(सुरेन्द्र तेजी से जाता है। रौशन बेचैनी से कमरे में घूमता है। सुरेन्द्र के साथ डाक्टर और भापी प्रवेश करते हैं। भापी के हाथ में इन्जेक्शन का सामान होता है।)

डाक्टर—क्या हाल है बच्चे का ?

(बरसाती उतार कर खूँटी पर टाँगता है और रुमाल से मुँह पोंछता है।)

रौशन—आपको भापी ने बताया होगा। मेरा तो हौसला टूट रहा है। कल सुबह उसे कुछ ज्वर हुआ और साँस में तकलीफ होगई और अब तो वह बेहोश-सा पड़ा है, जैसे अन्तिम साँसों को जाने से रोक रखने का भरसक प्रयास कर रहा है।

डा०—चलो, चलकर देखता हूँ।

(सब बीमार के कमरे में चले जाते हैं। बाहर दरवाजे के खटखटाने की आवाज़ आती है। माँ तेज़ी से प्रवेश करती है।)

माँ—भापी ! भापी !

(बीमार के कमरे से भापी आता है।)

माँ—देखो भापी, बाहर कौन दरवाजा खटखटा रहा है ? (आँखों में चमक आ जाती है।) मेरा तो ख्याल है, वही लोग आये हैं। मैंने रसोई की खिड़की से देखा है। टपकते हुए छाते लिए और बरसातियाँ पहने...

भापी—वही कौन ?

माँ—वही जो सरला के मरने पर अपनी लड़की के लिए कह रहे थे। बड़े भले आदमी हैं। सुनती हूँ, सियालकोट में उनका बड़ा काम है। इतनी वर्षा में भी....

(जोर-जोर से कुण्डी खटखटाने की निरन्तर आवाज आती है। भापी भागकर जाता है, माँ खिड़की में जाकर खड़ी होती है। बीमार के कमरे का दरवाजा खुलता है। सुरेन्द्र तेज़ी से प्रवेश करता है।)

सुरेन्द्र—भापी कहाँ है ?

माँ—बाहर कोई आया है, कुण्डी खोलने गया है।

(सुरेन्द्र फिर तेजी से वापस चला जाता है। माँ एक बार पर्दा उठाकर खिड़की से झाँकती है, फिर खुशी-खुशी कमरे में घूमती है। भापी दाखिल होता है।)

माँ—कौन है ?

भापी—शायद वही हैं। नीचे बिठा आया हूँ, पिता जी के पास, तुम चलो।

माँ—क्यों ?

भापी—उनके साथ एक स्त्री भी है।

माँ जल्दी-जल्दी चली जाती है। सुरेन्द्र कमरे का दरवाजा ज़रा-सा खोलकर देखता है और आवाज देता है—)

सुरेन्द्र—भापी !

भापी—हाँ।

सुरेन्द्र—इधर आओ।

(भापी कमरे में चला जाता है। कुछ क्षण के लिए खामोशी। केवल बाहर मेंह बरसने और हवा के थपेड़ों से किवाड़ों के खड़खड़ाने का शोर। कमरे में फ़ानूस के हिलने की सरसराहट। डाक्टर, सुरेन्द्र, रौशन और भापी बाहर आते हैं।)

रौशन—डाक्टर साहब, अब बताइए।

रौशन—बहुत नाज़ुक है ?

डाक्टर—हाँ !

डाक्टर—(अत्यधिक गम्भीरता से) बच्चे की हालत नाज़ुक है ।

रौशन—कुछ नहीं हो सकता ?

डाक्टर—परमात्मा के घर कुछ कमी नहीं; लेकिन आपने बहुत देर करदी है। खन्नाक* (Diphtheria) में तत्काल डाक्टर को बुलाना चाहिए।

रौशन—हमें मालूम ही नहीं हुआ डाक्टर साहब, कल शाम को इसे बुखार हो गया। गले में भी इसने बहुत कष्ट महसूस किया। मैं डाक्टर जीवाराम के पास ले गया—वही जो हमारे बाजार में हैं—उन्होंने गले में आयरन-ग्लिसरीन पेंट कर दी और फीवर-मिक्स्चर बना दिया। बस दो बार दवा दी, इसकी हालत पहले से खराब होगई। शाम को यह कुछ बेहोश-सा हो गया। मैं भागा-भागा आप के पास गया, पर आप मिले नहीं, तब रात को भापी को भेजा, फिर भी आप न मिले। डाक्टर जीवाराम आये थे, पर मैं उनकी दवा देने का हौसला न कर सका और फिर यह झड़ी लग गई।

(*ज़रा काँपता है।*)

—ओले, आंधी और तूफ़ान। ऐसी प्रलयकारी वर्षा तो कभी न देखी थी।

---

*Diphtheria—गले का संक्रामक रोग, जिसमें साँस बन्द हो जाने से मृत्यु हो जाती है ।

(बाहर हवा की साँय-साँय सुनाई देती है। डाक्टर सिर नीचा किए खड़ा है, रौशन उत्सुक नज़रों से उसकी ओर ताक रहा है, सुरेन्द्र मेज़ के एक कोने पर बैठा छत की ओर ज़ोर-ज़ोर से हिलते फ़ानूस को देख रहा है।)

डाक्टर – (सिर उठाता है) मैंने इंजेक्शन दे दिया है। भाभी ने जो लक्षण बताये थे, उन्हें सुनकर मैं बचाव के तौर पर इंजेक्शन का सामान और ट्यूब लेता आया था और मेरा ख़याल ठीक निकला। भाभी को मेरे साथ भेज दो। मैं इसे नुस्खा लिख देता हूँ, यहीं बाजार से दवाई बनवा लेना, मेरी जगह तो दूर है। पन्द्रह-पन्द्रह मिनट के बाद हलक में दवा को दो-चार बूँदें टपकाते रहना और एक घंटे में मुझे सूचित करना। यदि एक घंटे तक यह ठीक रहा तो मैं एक इंजेक्शन और कर जाऊँगा। इंजेक्शन के सिवा डिप्थीरिया का दूसरा इलाज नहीं।

रौशन—डाक्टर साहब...(आवाज़ भर आती है।)

डाक्टर—घबराने से काम न चलेगा, सावधानी से उसकी तीमारदारी करो, शायद... ।

रौशन—मैं अपनी तरफ़ से कोई कसर न उठा रखूँगा। सुरेन्द्र तुम मेरे पास रहना। देखो जाना नहीं, यह घर उस बच्चे के लिए वीराना है। यह लोग इसका जीवन नहीं चाहते, बड़ा रिश्ता पाने के मार्ग में इसे रोड़ा समझते हैं। इसकी मृत्यु चाहते हैं, सुरेन्द्र !

सुरेन्द्र—तुम क्या कह रहे हो रौशन ? उन्हें क्या यह प्रिय नहीं ? मूल से ब्याज प्यारा होता है ?

डाक्टर—क्या कह रहे हो, रौशनलाल ?

रौशन—आप नहीं जानते डाक्टर साहब ! यह सब लोग हृदयहीन हैं, आपको मालूम नहीं। इधर मैं अपनी पत्नी का दाहकर्म करके आया था, उधर ये लोग दूसरी जगह शादी के लिए शगुन लेने की सोच रहे थे।

सुरेन्द्र—यह तो दुनियाँ का व्यवहार है, भाई !

रौशन—दुनियाँ का व्यवहार इतना शुष्कइतना निर्मम, इतना क्रूर है ?

मैं उससे नफ़रत करता हूँ ! क्या ये लोग नहीं समझते कि यह जो मर जाती है, वह भी किसी की लड़की होती है, किसी माता-पिता के लाड़ में पली होती है, फिर उसके मरते ही सगाइयाँ लेकर दौड़ते हैं ! स्मृति-मात्र से मेरा खून उबलने लगता है !

डाक्टर—(चौंककर) देर हो रही है, मैं दवा भेजता हूँ। (भापी-से) भापी, चलो !

(डाक्टर साहब और भापी का प्रस्थान)

रौशन—सुरेन्द्र, क्या होने को है ? क्या अरुण भी मुझे सरला की भाँति छोड़कर चला जाएगा ? मैं तो इसका मुँह देखकर सन्तोष किये हुए था। उसी-जैसी भोली-भाली आँखें, उसी-जैसे मुस्कराते ओंठ; उसी-जैसा सीधा सरल स्वभाव ! मैं इसे देखकर सरला का ग़म भूल चुका था; लेकिन अब, अब...

(हाथों से चेहरा छिपा लेता है)

सुरेन्द्र—(उसे ढकेलकर कमरे की ओर ले जाता हुआ) पागल न बनो, चलो, उसके घर में क्या कमी है ? वह चाहे तो मरते हुओं को बचा दे, मृतकों को जीवन प्रदान कर दे।

रौशन—(भराए गले से) मुझे उस पर कोई विश्वास नहीं रहा। उसका कोई भरोसा नहीं—क्रूर, कठिन और निर्दयी ! उसका काम सताए हुओं को और सताना है, जले हुए को और जलाना है। अपने इस जीवन में हमने किसको सताया, किसको दुःख दिया, जो हम पर ये बिजलियाँ गिराई गईं, हमें इतना दुःख दिया गया !

सुरेन्द्र—दीवाने न बनो, चलो, उसके सिरहाने चलकर बैठो ! मैं देखता हूँ, भापी क्यों नहीं आया !

(उसे दरवाजे के अन्दर ढकेलकर मुड़ता है। दाईं ओर के दरवाजे से माँ दाखिल होती है।)

माँ—किधर चले ?

सुरेन्द्र—जरा भापी को देखने जा रहा था ?

माँ—क्या हाल है अरुण का ?

सुरेन्द्र—उसकी हालत खराब हो रही है।

माँ—हमने तो बाबा बोलना ही छोड़ दिया। ये डाक्टर जो न करें, थोड़ा है। बहू के मामले में भी तो यही बात हुई थी। अच्छी भली हकीम की दवा हो रही थी, आराम आ रहा था, जिगर का बुखार ही था, दो-दो वर्ष भी रहता है; पर यह डाक्टर को लाए बिना न माना। डाक्टरों को आजकल दिक़ के बिना कुछ सूझता ही नहीं। जहाँ बुखार पुराना हुआ, जरा खाँसी आई कि दिक़ का फतवा दे देते हैं। 'मुझे दिक़ हो गया है!—यह' सुनकर मरीज की आधी जान तो पहले ही निकल जाती है। हम ने तो भाई इस लिए कुछ कहना-सुनना छोड़ दिया है। आखिर मैंने भी तो पाँच बच्चे पाले हैं। बीमारियाँ हुईं, कष्ट हुए, बीमारों के पीछे भागी-भागी नहीं फिरी। क्या बताया डाक्टर ने?

सुरेन्द्र—डिफ्थीरिया।

माँ—वह क्या होता है?

सुरेन्द्र—बड़ी खतरनाक बीमारी है, माँ जी! अच्छा भला आदमी दो-चार दिन के अन्दर खत्म हो जाता है।

माँ—(काँपकर) राम-राम, तुम लोगों ने क्या कुछ-का-कुछ बना डाला। उसे जरा ज्वर हो गया, छाती जम गई, बस मैं घुट्टी दे देती तो ठीक हो जाता, लेकिन मुझे कोई हाथ लगाने दे तब न! हमें तो वह कहता है, बच्चे से प्यार ही नहीं।

सुरेन्द्र – नहीं-नहीं, यह कैसे हो सकता है। आपसे अधिक वह किसे प्यारा होगा?

(चलने को उद्यत होता है।)

माँ—सुनो!

(सुरेन्द्र रुक जाता है।)

माँ – मैं तुमसे बात करने आई थी, तुम उसके मित्र हो, उसे समझा सकते हो।

सुरेन्द्र—कहिए।

माँ—आज वह फिर आए हैं।

सुरेन्द्र—वे कौन?

माँ—सियालकोट के एक व्यापारी हैं। जब सरला का चौथा हुआ

था तो उस दिन रौशी के लिए अपनी लड़की का शगुन लेकर आये थे। पर उसे न जाने क्या हो गया है, किसी की सुनता ही नहीं, सामने ही न आया। हारकर बेचारे चले गये। रौशी के पिता ने उन्हें एक महीने बाद आने को कहा था, सो पूरे एक महीने बाद वे आये हैं।

सुरेन्द्र—माँ जी....

माँ—तुम जानते हो बच्चा, दुनिया-जहान का यह क़ायदा ही है। गिरे हुए मकान की नींव पर ही दूसरा मकान खड़ा होता है। रामप्रताप को ही देख लो, अभी दाह-कर्म संस्कार के बाद नहाकर साफ़ा भी न निचोड़ा था कि नकोदर वालों ने शगुन दे दिया, एक महीने के बाद विवाह भी हो गया। और अब तो सुनते हैं, एक बच्चा भी होने वाला है।

सुरेन्द्र—माँ जी, रामप्रताप और रौशन में कुछ अन्तर है।

माँ—यही कि वह माता-पिता का आज्ञाकारी है और यह पढ़-लिख-कर माँ-बाप की अवज्ञा करना सीख गया है। और अभी तो चार नाते आते हैं, फिर देर हो गई तो इधर कोई मुँह भी न करेगा। लोग सौ बातें बनाएँगे, सौ-सौ लांछन लगायेंगे और फिर ऐसा कौन क्वारा है....

सुरेन्द्र—तुम्हारा रौशन बिन-ब्याहा नहीं रहेगा, इसका मैं यकीन दिलाता हूँ।

माँ—यही ठीक है, पर अब यह शरीफ आदमी मिलते हैं। घर अच्छा है, लड़की अच्छी है, सुशील है, सुन्दर है, सुशिक्षित है, और सबसे बढ़कर यह है कि ये लोग बड़े भले हैं। लड़की की बड़ी बहन से अभी मैंने बातें की हैं। ऐसी सलीक़ेबाज़ी है कि क्या कहूँ! बोलती है तो फूल झड़ते हैं। जिसकी बड़ी बहन ऐसी है, वह स्वयं कैसे अच्छी न होगी?

सुरेन्द्र—माँजी, अरुण की तबियत बहुत खराब है। जाकर देखो तो मालूम हो।

माँ—बेटा, ये भी तो इतनी दूर से आए हैं। इस आँधी और तूफान में कैसे उन्हें निराश लौटा दूँ!

सुरेन्द्र—तो आखिर आप मुझसे क्या चाहती हैं ?

माँ—तुम्हारा वह मित्र है, उससे जाकर कहो कि ज़रा दो-चार मिनट जाकर उनसे बात कर ले। जो कुछ वे पूछते हों, उन्हें बता दे, इतने, मैं लड़के के पास बैठती हूँ।

सुरेन्द्र—मुझसे यह नहीं हो सकता माँ जी, बच्चे की हालत ठीक नहीं; बल्कि शोचनीय है। और आप जानती हैं, वह उसे कितना प्यार करता है। भाभी के बाद उसका सब ध्यान बच्चे में केन्द्रित हो गया है। वह उसे अपनी आँखों में बिठाए रखता है, स्वयं उसका मुँह-हाथ धुलाता है, स्वयं नहलाता है, स्वयं कपड़े पहनाता है और इस वक्त जब बच्चे की हालत ठीक नहीं, मैं उससे यह सब कैसे कहूँ ?

(बीमार के कमरे का दरवाज़ा खुलता है। रौशन दाखिल होता है। बाल बिखरे हुए, चेहरा उतरा हुआ, आँखें फटी-फटी-सी।)

रौशन—सुरेन्द्र, तुम अभी यहीं खड़े हो ? परमात्मा के लिए जल्दी जाओ ! मेरी बरसाती ले जाओ, नीचे से छतरी ले जाओ, देखो भापी आया क्यों नहीं ? अरुण तो जा रहा है, प्रतिक्षण जैसे डूब रहा है !

(सुरेन्द्र एक बार खिड़की से बाहर देखता और फिर तेज़ी से निकल जाता है। माँ, रौशन के समीप जाती हैं।)

माँ—क्या बात है, घबराए क्यों हो ?

रौशन—माँ, उसे डिप्थीरिया हो गया है।

माँ—सुरेन्द्र ने बताया है। (असन्तोष से सिर हिलाकर) तुम लोगों ने मिल-मिलाकर...

रौशन—क्या कह रही हो ? तुम्हें अगर स्वयं कुछ मालूम नहीं तो दूसरे को तो कुछ करने दो।

माँ—चलो, मैं चलकर देखती हूँ।

(बढ़ती हैं।)

रौशन - (रास्ता रोकता है) नहीं, तुम मत जाओ। उसे बेहद तकलीफ़ है, उसे साँस मुश्किल से आता है, उसका दम उखड़ रहा है,

तुम कोई चुट्टी-चुट्टी की बात करोगी, तुम यहीं रहो, मैं उसे बचाने की अन्तिम कोशिश करूँगा।

(जाना चाहता है।)

माँ—सुनो !

(रौशन मुड़ता है। माँ असमंजस में है।)

रौशन—कहो !

माँ—(चुप)

रौशन—जल्दी-जल्दी कहो, मुझे जाना है।

माँ—वे फिर आए हैं।

रौशन—वे कौन ?

माँ—वही सियालकोट वाले !

रौशन—(क्रोध से) उनसे कहो, जिस तरह आये हैं वैसे ही चले जाएँ।

(जाना चाहता है।)

माँ—रौशी !

रौशन—मैं नहीं जानता, मैं पागल हूँ या आप ! क्या आप मेरी सूरत नहीं देखतीं ? क्या आपको इस पर कुछ लिखा दिखाई नहीं देता ? शादी, शादी, शादी ! क्या शादी ही दुनिया में सब कुछ है ! घर में बच्चा मर रहा है और तुम्हें शादी सूझ रही है। आखिर तुम लोगों को हो क्या गया है ? वह अभी मृत्यु शय्या पर पड़ी थी कि तुमने मेरी साली को लेकर शादी की बात चला दी ; वह मर गई, मैं अभी रो भी न पाया कि तुम शगुन लेने पर ज़ोर देने लगीं। क्या वह मेरी पत्नी न थी ? क्या वह कोई फ़ालतू चीज़ थी ?

माँ—शोर मत मचाओ ! हम तुम्हारे फ़ायदे की बात करते हैं, रामप्रताप......

रौशन—(चीखकर) तुम रामप्रताप को मुझ से मिलाती हो ? अनपढ़, अशिक्षित, गँवार ! उसके दिल कहाँ है ? महसूस करने का मादा कहाँ है ? वह जानवर है !

माँ—तुम्हारे पिता ने भी तो पहली पत्नी की मृत्यु के दूसरे महीने ही विवाह कर लिया था...

रौशन—वे...माँ जाओ, मैं क्या कहने लगा था ?

(तेज़ी से मुड़कर कमरे में चला जाता है और दरवाजा बन्द कर लेता है। हाथ में हुक्का लिये हुए, खँखारते-खँखारते रौशन के पिता का प्रवेश।)

पिता—क्या कहता है रौशन ?

माँ—वह तो बात भी नहीं सुनता, जाने बच्चे की तबियत बहुत खराब है।

पिता—(खँखारकर) एक दिन में ही इतनी क्या खराब हो गई ? मैं जानता हूँ, यह सब बहानेबाजी है।

(जोर से आवाज़ देता है—)

रौशी, रौशी।

(खिड़कियों पर वायु के थपेड़ों की आवाज)

(फिर आवाज़ देता है—)

रौशी, रौशी !

(रौशन दरवाजा खोल कर झाँकता है। चेहरा पहले से भी उतरा हुआ है, आँखें रुआँसी-सी और निगाहों में करुणा।)

रौशन—(अत्यन्त थके स्वर से) धीरे बोलें, आप क्या शोर मचा रहे हैं।

पिता—इधर आओ !

रौशन—मेरे पास समय नहीं ?

पिता—(चीखकर) समय नहीं !

रौशन—धीरे बोलिये आप !

पिता—मैं कहता हूँ, वे इतनी दूर से आए हैं, तुम्हें देखना चाहते हैं, तुम जाकर उनसे जरा एक-दो मिनट बातचीत कर लो।

रौशन—मैं नहीं जा सकता।

पिता—नहीं जा सकता ?

रौशन—नहीं जा सकता !

पिता—तो मैं शगुन ले रहा हूँ ! इस वर्षा, आँधी और तूफान में मैं उन्हें अपने घर से निराश नहीं भेज सकता, घर आई लक्ष्मी को नहीं लौटा सकता। लड़की अच्छी है, सुन्दर है, घर के काम-काज में चतुर है, चार-पाँच श्रेणी तक पढ़ी है। रामायण, महाभारत बखूबी पढ़ लेती है।

(रोने की तरह रौशन हँसता है।)

रौशन—हाँ, आप लक्ष्मी को न लौटाइए।

(खट से दरवाजा बन्द कर लेता है।)

पिता—(रौशन की माँ से) इस एक महीने में हमने कितनों को इन्कार किया है, पर इनको कैसे इन्कार करें ? सियालकोट में बड़ी भारी इन की फर्म है। मैंने महीने भर में अच्छी तरह पता लगा लिया है। हजारों का तो इन के यहाँ लेन-देन है। उन्हें कुछ बहू की बीमारी की ओर से आशंका थी। पूछते थे—उसका देहान्त किस रोग से हुआ ? सो भई मैंने तो यही कह दिया—दिक-विक कुछ नहीं थी, जिगर की बीमारी थी। (गर्व से) लाख हो, रौशन जैसा कमाऊ लड़का मिल भी कैसे सकता है ? बेकारों की फौज दरकार हो तो चाहे जितनी मर्जी इकट्ठा कर लो। उस दिन लाला सुन्दरलाल अपनी लड़की के लिए कह रहे थे—कालेज में पढ़ती है। पर मैंने तो इन्कार कर दिया।

माँ—अच्छा किया। मुझे तो आयु भर उसकी गुलामी करनी पड़ती—बच्चे को पूछते होंगे ?

पिता—हाँ, मैंने तो कह दिया—बच्चा है, पर माँ की मृत्यु के बाद उसकी हालत ठीक नहीं रहती।

माँ—तो आप हाँ कर दें।

पिता—हाँ, मैं तो शगुन ले लूँगा।

(चले जाते हैं। हुक्के की आवाज दूर होते-होते गुम हो जाती है। माँ खुशी-खुशी में घूमती है, कमरे में भापी आता है और तेजी से निकल जाता है।)

माँ—भापी !

भाषी—मैं डाक्टर के यहाँ जा रहा हूँ !

(तेजी से चला जाता है। बीमार के कमरे से सुरेन्द्र निकलता है।)

सुरेन्द्र—माँ जी !

माँ—क्या बात है ?

सुरेन्द्र—दाने लाओ और दिए का प्रबन्ध करो !

माँ—क्या ?...

(आँखें फाड़े उसकी ओर देखती रह जाती है। हवा की साँय-साँय)

सुरेन्द्र—अरुण इस संसार से जा रहा है !

(फानूस टूटकर धरती पर पड़ता है। माँ भाग कर दरवाजे पर जाती है।)

माँ—रौशी, रौशी !

(दरवाजा अन्दर से बन्द।)

माँ—रौशी, रौशी !

रौशन—(कमरे के अन्दर से भर्राये स्वर में) क्या बात है !

माँ—दरवाजा !

रौशन—तुम पहले लक्ष्मी का स्वागत कर लो !

माँ—रौशी !

....

(बाईं ओर के दरवाजे के बाहर से खँखारने की और हुक्के की आवाज।)

पिता—(सीढ़ियों से ही) रौशन की माँ बधाई हो !

(रौशन के पिता का प्रवेश। माँ उनकी ओर मुड़ती है।)

पिता—बधाई हो, मैंने शगुन ले लिया !

(कमरे का दरवाजा खुलता है, मृत-बालक का शव लिये रौशन का प्रवेश)

रौशन—हाँ, नाचो, गाओ, बाजे बजाओ !

३

कौस्मोपौलिटन क्लब

(श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार)

पात्र-परिचय

महेन्द्रनाथ अवस्थी—तेल की एक बड़ी कम्पनी का चीफ-एजेण्ट।
चमनलाल सूरी—पत्रकार।
चन्दूलाल—लड़ाई के सामान का एक बड़ा ठेकेदार।
शीला भल्ला—प्रो० दयानाथ भल्ला की कम्यूनिस्ट पत्नी।
आफ़ताफ़—(मेजर) फ़ौजी अफ़सर।
दयानाथ भल्ला—नगर के लब्धप्रतिष्ठ प्रोफ़ेसर।
स्नेहभूषण—एक अमीर कम्यूनिस्ट।
प्रभाभूषण—स्नेहभूषण की पत्नी, फिल्म-ऐक्ट्रेस
प्रेमचन्द—एक प्रसिद्ध लेखक।
ताराराानी—कुलीन घर की एक कुमारी।
इन्द्रप्रकाश—रेडिकल डेमोक्रेट, बीमा एजेण्ट।
सरजूभाई पटेल—एम. एल. ए. कॉंग्रेस के एक लीडर।
भरद्वाज—अवसर प्राप्त आई० सी० एस०

स्थान—क्लब का बड़ा कमरा।
समय—साँझ (सूर्यास्त के बाद)

[एक ओर बैण्ड रखने का चबूतरा बना है। जिस पर विभिन्न तरह के ११ वाद्य-यन्त्र, जिनमें से १० विदेशी हैं, रखे हैं। क्लब में कभी-कभी हिन्दुस्तानी नाच भी होता है। इससे तबले की एक सुन्दर जोड़ी भी वहाँ रखी है, यद्यपि कोई स्थायी तबलची बैण्ड-स्टाफ में नहीं है। बाकी सब वाद्य-यन्त्रों के सम्मुख उनके बजाने वाले तथा बैण्ड मास्टर अपनी निश्चित पोशाक में

विद्यमान है। एक बहुत हल्की, परन्तु श्रुति-मधुर विदेशी स्वर-लहरी सुनाई दे रही है।

बैण्ड-स्टैण्ड के सामने नाचने के लिए लकड़ी का फर्श है। उसके चारों ओर हल्के हरे रंग की शीशे से मढ़ी बहुत-सी छोटी मेजें बिखरी हुई बिछाई गई हैं। इन मेजों के चारों ओर हल्के हरे रंग की बेंत की गद्देदार आरामदेह गोल कुर्सियाँ ढंग से सजाकर रखी हैं। हाल में दो से लेकर बारह आदमियों के एक साथ बैठने का प्रबन्ध है। अधिकांश मेजें सुरक्षित हो चुकी हैं।

कुछ मेज़ों के चारों ओर साँझ की अंग्रेज़ी पोशाक पहने पुरुष और आकर्षक साड़ियाँ अथवा एक ही रँग की सलवार-कमीज़ पहने और दुपट्टे ओढ़े स्त्रियाँ बैठी हैं। अधिकांश के सिर नँगे हैं, परन्तु छपी हुई छोटी-छोटी पगड़ियाँ बाँधे सिक्खों का भी वहाँ अभाव नहीं है। बहुत-सी कुर्सियाँ अभी खाली पड़ी हैं। हाल में क्लब की निश्चित पोशाक पहने बैरों और लड़कों (ब्वाएज) की एक फौज़ विद्यमान है।

एक जगह, नाचने के फर्श के बिलकुल निकट, बारह व्यक्तियों के एक साथ बैठने का प्रबन्ध है। परन्तु वहाँ अभी केवल दो ही व्यक्ति विद्यमान हैं। तेल की एक बड़ी विदेशी कम्पनी के उत्तर-भारत के एजेण्ट महेन्द्रनाथ अवस्थी और युवक पत्रकार चमनलाल सूरी। दोनों व्यक्ति पूरी तरह अंग्रेज़ी वेष-भूषा में हैं और अपने प्रत्येक आचरण और उच्चारण में अंग्रेज़ी-पन लाने का भरपूर प्रयत्न कर रहे हैं।]

अवस्थी—आप तो पत्रकार हैं, मिस्टर सूरी ! यूरोप की लड़ाई में तो हम लोग जीत गए। कहिए, रूस से पेट्रोल कब तक हिन्दुस्तान में आने लगेगा ?

सूरी—यह बड़ा पेचीदा प्रश्न है, मिस्टर अवस्थी। गवर्नर सर कौलविल ने उस दिन प्रेस-कान्फरेन्स में कहा था। और मिस्टर अव-स्थी, हिज़ एक्सीलेन्सी उस दिन खास मेरी ओर ही देख रहे थे ! उन्होंने कहा था...

अवस्थी—(ज़रा मुस्कराकर) आपका यह चेहरा सचमुच ही देखने के योग्य है। अच्छा, मिस्टर सूरी ! अभी तक सेठ चन्दूलाल

नहीं आए। उन्होंने मुझ से कहा था कि नाच से आध-एक घण्टा पहले ही मैं क्लब में पहुँच जाऊँगा।

सूरी—सेठ चन्दूलाल भी पधार रहे हैं? भारत की राजनीति के बारे में हाल ही में मैंने अंग्रेजी में एक पुस्तक लिखी है। आप सेठ साहब से कहिएगा कि अपने मजदूरों में बाँटने के लिये वे उस पुस्तक की ५०० कापियाँ खरीद लें।

अवस्थी—वाह साहब, वाह! आपने अभी तक अपनी वह पुस्तक मुझे तो उपहार में दी नहीं! कुछ मित्रता का हक तो अदा किया होता!

(इसी समय सेठ चन्दूलाल का प्रवेश। वे देसी पोशाक में हैं। सेठ साहब अवस्थी से हाथ मिलाते हैं और अवस्थी उनका सूरी से परिचय करवाते हैं—'आप हैं मिस्टर सूरी प्रसिद्ध पत्रकार।' और 'आप हैं, सेठ चन्दूलाल, उत्तर-भारत के महान् ठेकेदार।' सेठ और सूरी आपस में कहते हैं—'आपका क्या हाल है?' आपका क्या हाल है?' ('हाउ डू यू डू?' और 'हाउ डू यू डू?)

सूरी—(चन्दूलाल से) आप से मिलने की मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी। आज सौभाग्य है कि···

चन्दूलाल—मैंने पहले भी, आपको कहीं देखा है? हाँ, याद आया। अरे, अभी पिछले महीने ही तो। (एकाएक सूरी के कन्धे पर बेतकल्लुफी से हाथ रखकर) अरे मेरे यार, उस दिन वह परी कौन थी तुम्हारे साथ?

अवस्थी—परी और इनके साथ! (सूरी से) तुम तो छिपे रुस्तम मालूम होते हो, यार!

सूरी—किस दिन? कौन? बहुत-सी लड़कियाँ मेरी मित्र हैं। आप किसको पूछ रहे हैं, सेठ साहब?

चन्दूलाल—हल्के पीले रंग का रेशमी सूट पहने हुए वह गोरी मृग-नयनी, जो तुम्हारे साथ उस दिन नाची भी थी।

सूरी—अजी, वह मिस··(नाम लेते-लेते रुक जाता है।)। वह मेरी

पुरानी मित्र है। बहुत बड़े घर की है। यों किसी के साथ आना-जाना पसन्द नहीं करती।

चन्दूलाल—यार, हमसे भी तो उसका परिचय करवाओ।

सूरी—देखिए, कोशिश करूँगा। मगर वह अधिक मिलना-जुलना पसन्द नहीं करती।

चन्दूलाल—अरे जाने भी दो, मेरे यार! मैंने इन लड़कियों के बड़े रंग देखे हैं।

अवस्थी—अच्छा सेठ साहब, अब जरा काम की बातें हो जाएँ। और लोग भी धीरे-धीरे आते ही होंगे।

चन्दूलाल—हाँ, हाँ, कहिए।

अवस्थी—(सूरी से) यार, मिसेज़ भल्ला का टेलीफोन आया था कि वह अभी अकेली ही क्लब में आ रही है। भल्ला साहब जरा देर में आयेंगे।

सूरी—[मुस्कराकर] बहुत अच्छा। [प्रस्थान]

चन्दूलाल—यह कौन छोकरा है, अवस्थी साहब?

अवस्थी—ऐसे ही एक चलता-पुर्जा पत्रकार है। ऐसे लोगों को हाथ में तो रखना ही चाहिए। औरत का नाम सुनकर बछिया का ताऊ किस प्रकार शीघ्रता से चला गया!

चन्दूलाल—हूँ! तुमने भी उसे खूब खिसकाया। अच्छा यार, हमें तेल देने के बारे में तुमने क्या फैसला किया?

अवस्थी—क्रूड आयल तो आपको पूरी मिकदार में पहुँचाना मेरे जिम्मे रहा। कहिए, उस में आप मेरा हिस्सा कितना रखेंगे?

चन्दूलाल—जो कहो।

अवस्थी—आप ही बताइए, सेठ साहब!

चन्दूलाल—(उँगलियों से इशारा कर) २० प्रतिशत।

अवस्थी—अजी जनाब, जाने दीजिये। यों ही तेल ले लीजिएगा।

चन्दूलाल—आप तो नाराज़ हो गए।

अवस्थी—मैं भला क्या नाराज़ होऊँगा। आप तो ५० की जगह बीस सुनाते हैं।

चन्दूलाल—५० की जगह ? ५० की तो हमें भी बचत नहीं।

अवस्थी—(मुस्कराकर) आप को १०० में से ६० की बचत है। ब्लैक मार्केट का मुनाफा कौन नहीं जानता ? (इसी वक्त मिसेज दयानाथ भल्ला को लिए हुए सूरी का प्रवेश। दोनों खड़े होकर मिसेज़ भल्ला का स्वागत करते हैं।)

मिसेज़ भल्ला—मैं समय से पहले आगई न, मि० अवस्थी !

अवस्थी—जी, आप की कृपा है।

मिसेज़ भल्ला—आज मौसम कैसा है, सेठ साहब ?

चन्दूलाल—(सूरी से) आज मौसम कैसा है, मि० सूरी ?

सूरी—क्यों, कोई खास बात है क्या ?

मिसेज़ भल्ला—नहीं मेरा मतलब है, कुछ अजीब-सा मौसम है आज। न सर्दी और गरमी। कुछ समझ में नहीं आता, कैसा मौसम है !

अवस्थी—जी, बिलकुल समझ में नहीं आता।

मिसेज़ भल्ला—(ज़रा मुस्कराकर, सूरी से) आप तो मालूम होता है, सारा दिन क्लब में ही बिताते हैं, मिस्टर सूरी !

सूरी—जी, यह तो मेरा कर्त्तव्य हुआ।

अवस्थी—फरमाइए, आपके लिए क्या मँगवाया जाय, मिसेज भल्ला ?

मिसेज़ भल्ला—नहीं, धन्यवाद। अभी मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब आवश्यकता होगी, मैं स्वयं माँग लूँगी। (इसी समय मिसेज भल्ला की दृष्टि निकट की एक टेबल पर पड़ती है, जहाँ एक नौजवान फौजी अकेला बैठा है।)

मिसेज़ भल्ला—(फौजी से ज़रा ऊँची आवाज में) अहा ! मेजर आफ़ताफ़, आप कब आए ?

(मेजर आफ़ताफ़ बड़े सम्मान के साथ उठकर मिसेज़ भल्ला को सलाम

करता है और उनके निकट आ जाता है। मिसेज़ भल्ला सबसे उसका परिचय करवाती हैं। पहले के समान 'आप हैं'...और 'हाउ डू यू डू' का दौर। 'आप का क्या हाल है, मिस्टर अवस्थी मेजर आफ़ताफ़ से अनुरोध करते हैं कि वे उसी टेबल पर बैठ जायें और वे इस अनुरोध को स्वीकार कर लेते हैं।)

मिसेज़ भल्ला—मेजर आफ़ताफ़ मेरे पुराने मित्र हैं। तोब्रुक की लड़ाई में इन्होंने शत्रु के दाँत खट्टे कर दिए थे।

आफ़ताफ़—यह सब आपकी कृपा है।

सूरी—आप आराम के साथ मुझे कोई समय दे सकेंगे?

आफ़ताफ़—ज़रूर-ज़रूर। मगर उसकी आवश्यकता क्या है?

मिसेज़ भल्ला—आप हिन्दुस्तान कब आए, मेजर?

आफ़ताफ़—मैं तो साल-भर से आसाम में था। इन दिनों छुट्टी पर यहाँ आया हूँ।

मिसेज़ भल्ला—आप बड़े वीर हैं, मेजर आफ़ताफ़!

चन्दूलाल—जी, इस में क्या सन्देह?

मिसेज़ भल्ला—(दूर की एक टेबिल की ओर देखकर) ओहो, मि० तनखा भी आए हुए हैं। [अपनी टेबल के साथियों से] क्षमा कीजिएगा, मैं अभी आई। (मि० तनखा की टेबल की ओर प्रस्थान।)

अवस्थी—बड़ी जबरदस्त हैं, मिसेज भल्ला।

चन्दूलाल—(ज़रा मुस्कराकर) इसमें क्या सन्देह है?

आफ़ताफ़—बड़ी एडवान्स लेडी हैं मिसेज भल्ला। हमारे देश को ऐसी ही स्त्रियों की आवश्यकता है।

सूरी—मेजर साहब, तो बहुत से देशों की स्त्रियों को देखा होगा आपने?

आफ़ताफ़—[अभिमान के साथ, मुस्कराकर] यह तो स्वाभाविक ही है, मिस्टर सूरी! हमारे देश की स्त्रियाँ अभी बहुत पिछड़ी हुई हैं।

अवस्थी—इस दृष्टि से आपको सबसे अच्छा देश कौन-सा लगा?

आफ़ताफ़—किस दृष्टि से?

चन्दूलाल—यही, उदाहरण के लिए सौंदर्य की दृष्टि से?

आफ़ताफ़—मुझे तो ईरान बहुत पसन्द आया। इतनी सुन्दरता है उस देश में कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। और फिर क्या सुन्दरता से मुस्कराती हैं वहाँ की स्त्रियाँ ! हिन्दुस्तान में तो बस......

सूरी—अपने कुछ अनुभव तो सुनाइए, मेजर साहब !

आफ़ताफ़—अनुभवों के लिए तो मैं पेरिस जाना चाहता था; मगर अपने अफसरों को इन अनुभवों की महत्ता मैं समझा नहीं सका। जाने दीजिए, सूरी, इन बातों को। आप अपने इस क्लब के अनुभव सुनाइए।

[इसी समय प्रोफेसर दयानाथ भल्ला के साथ कामरेड स्नेहभूषण और उनकी पत्नी श्रीमती (मिस) प्रभाभूषण का प्रवेश। सब लोग खड़े होकर उनका स्वागत करते हैं। परिचय की औपचारिकताएँ पूरी की जाती हैं।)

अवस्थी—आप लोग समय पर आ गए, इसके लिए धन्यवाद।

प्रभा—मैं तो नाटक के रिहर्सल से आज बिलकुल ऊब गई थी। यह छोटा डाइरेक्टर तो पूरा गधा है।

सूरी—कौन है आपकी कंपनी का छोटा डाइरेक्टर ?

प्रभा—छोटा तनखा। नालायक कहीं का ! कहता था कि हिंदुस्तान की लड़कियाँ आजकल बड़ी आज़ाद होती जा रही हैं। उसे मतलब ?

चन्दूलाल—ओहो, मैं समझा ! बड़े तनखा तो पहले ही से यहाँ क्लब में विराजमान हैं।

प्रभा—सच !

चन्दूलाल—वह देखिए, उस मेज पर बैठे हैं। मिसेज भल्ला उन्हीं से मिलने गई हैं।

प्रभा—बड़े तनखा कभी किसी के व्यक्तिगत मामले में हस्तक्षेप नहीं करते, मगर यह छोटा तनखा तो पूरा शैतान का चर्खा है। जब देखो, आजकल की लड़कियों की आलोचना करता रहता है।

स्नेहभूषण—तुम उसे गलत समझी हो, प्रभा ! वह खरा आदमी है। वह यह पसन्द नहीं करता कि अपनी अभिनेत्रियों की निन्दा

उनकी पीठ पीछे दूसरे जनों से सुने। तुम्हें मालूम नहीं कि जो पुरुष स्त्रियों के मुँह पर उनकी खुशामद करते नहीं थकते, वे पीठ-पीछे कितने भद्दे शब्दों में उनकी आलोचना करते हैं। तनखा इस किस्म का आदमी नहीं है। दिखावट वह पसन्द नहीं करता। [अचानक स्नेहभूषण देखता है कि वातावरण में गम्भीरता छा गई है, इससे बात बदल देने की इच्छा से वह कहता है] और प्रभा, तुम तो अब लड़की नहीं रहीं। कच्ची उम्र की लड़कियों के विरुद्ध वह जो कुछ कहता है, वह तुम पर लागू ही कहाँ होता है?

दयानाथ—तुम तो पूरा लेक्चर ही दे गए, स्नेह भूषण! [इसी समय मिसेज़ मल्हा अपनी टेबल पर वापस आ जाती है।]

शीला—[अपने पति से] तुम आज समय पर कैसे पहुँच गए?

दयानाथ—[प्रभा की ओर इशारा कर] इनकी दया से [शीला आफ़-ताफ़ के निकट वाली कुर्सी पर आ बैठ जाती है। अवस्थी की आज्ञा से बेरा टेबल पर पेय, खाद्य आदि रख देते हैं]

आफ़ताफ़—[ज़रा मुस्कराकर, शीला से] आपके स्वास्थ्य और अपनी क्रियाशीलता में अभी तक कोई अन्तर नहीं आया। कितने वर्षों के बाद हमारी भेंट हुई है? और वह भी कितना अचानक।

शीला—ठीक है। आज करीब चार बरस बाद हम मिले हैं, और तुम तो पहले से भी अधिक स्वस्थ दिखाई देते हो।

आफ़ताफ़—यह आपकी दुआ है।

शीला—हाँ, आफ़ताफ़, मुझे तुमसे एक बात कहनी थी। तुम्हारे राजनैतिक विचार कैसे हैं?

आफ़ताफ़—राजनैतिक विचार! मैं तो एक सैनिक हूँ और राज-नीतिक मेरा विषय नहीं है।

शीला—मेरा मतलब है कि तुम कम्यूनिस्ट हो या नहीं?

आफ़ताफ़—नहीं।

शीला—तो तुम अभी तक कुछ भी नहीं सीखे। तुम्हें कम्यूनिस्ट होना चाहिए।

आफ़ताफ़—[ज़रा मुस्कराकर] वह क्यों ?

शीला—क्योंकि मैं कहती हूँ ।

आफ़ताफ़—जी हाँ, तब तो मुझे अवश्य ही कम्यूनिस्ट हो जाना चाहिए। मगर आप क्या सचमुच कम्यूनिस्ट हैं ?

शीला—हाँ, सचमुच। तुम्हें मालूम नहीं है कि देश के सभी सही दिमाग़ बड़ी तेज़ी से कम्यूनिस्ट बनते चले जा रहे हैं ।

आफ़ताफ़—सचमुच ?

शीला—हाँ, सचमुच ।

आफ़ताफ़—मगर मैं तो समझा था कि हिन्दुस्तान के लोग महात्मा गान्धी के पीछे हैं !

शीला—अरे, तुम किस जमाने की बातें करते हो, आफ़ताफ़ ! अब जमाना बदल गया। कम्यूनिज्म तो अब इस देश में एक फैशन बनता जा रहा है। गान्धी को अब कौन पूछता है ?

आफ़ताफ़—दुनियाँ तो अब भी यही समझती है कि जो कुछ गांधी कहता है, वही हिन्दुस्तान की आवाज है ।

शीला—कौन कहता है ? मालूम होता है, तुम कुछ पढ़ते-लिखते नहीं हो, आफ़ताफ़ ! कामरेड 'त्त' की किताबें तुमने पढ़ी ?

आफ़ताफ़—जो नहीं ।

शीला—बस, यही तो बात है। तभी तो, पढ़ना-लिखना जानते हुए भी, तुम बेपढ़ों की-सी बातें कर रहे हो। इस लड़ाई में रूस ने जो कुछ किया है, वह तुमने देखा ?

आफ़ताफ़—रूस की वीरता तो बेशक बहस के ऊपर की चीज है । मगर हम लोग तो फौजी हैं। हमें तो जिधर हुक्म हो, उधर गोली चलाना आता है ।

शीला—समय निकाल कर कुछ स्टडी [अध्ययन] भी किया करो।

आफ़ताफ़—बहुत ठीक। मगर अब तो सुना है कि रूस और इंगलैण्ड में कई बातों पर मतभेद पैदा हो गया है। मैंने कहा न कि

हम तो भाई, फौजी आदमी हैं। कल्पना करो, अगर कभी इंगलैण्ड और रूस में छिड़ गई, तो हमें रूस के खिलाफ़ लड़ना ही पड़ेगा।

शीला—[ज़रा जोश के साथ] रूस के खिलाफ़ लड़ना पड़ेगा ? अरे क्या कहते हो, रूस के खिलाफ़ लड़ना पड़ेगा ! अगर ऐसा हुआ तो आफ़ताफ़, मैं उम्मीद करता हूँ कि रूसियों पर गोली चलाने से पहले तुम खुद अपने को गोली मार लोगे।

आफ़ताफ़—[हँसकर] आप इतने जोश में क्यों आ गई, मिसेज भल्ला ? अगर गोली ही खानी होती, तो हम लोग अपने देश के लिए गोली न खा लेते ! आप रूसी तो नहीं हैं, मिसेज भल्ला ?

दयानाथ—अरे भाई, जाने भी दो इस वे मतलब की बहस को। रूस और इंगलैण्ड में लड़ाई नहीं होगी। आप निश्चिन्त रहिए, मेजर आफ़ताफ़ ! शीला के अनुरोध से आपको खुद अपने को गोली नहीं मार लेनी पड़ेगी !

आफ़ताफ़—यह तो मैं भी जानता,हूँ, मिस्टर भल्ला ! मगर मिसेज भल्ला को रूस की चिंता हिन्दुस्तान की चिंता से भी अधिक क्यों है ?

शीला—यही तो तुम नहीं समझते, आफ़ताफ़ ! जरा स्टडी करो, तो तुम्हें पता चलेगा कि कम्यूनिज्म के प्रचार के विना न तो हिन्दुस्तान आजाद हो सकता है और न उसे आजाद होना ही चाहिए ?

आफ़ताफ़—आजाद नहीं होना चाहिए ?

शीला—देखो न, कॉंग्रेस ने अब तक क्या कर लिया ? सौ साल से बुड्ढा गांधी कोशिश कर रहा है, उसने क्या कर लिया ? सब हैंकी-पैंकी हैं। इन सबका दिमाग खराब हैं।

आफ़ताफ़—और कम्यूनिस्टों ने क्या कर लिया है, मिसेज भल्ला ?

शीला—असल में तुम अपने देश से विलकुल अलग हो। तुमने हमारे नेताओं के भाषण नहीं सुने। हाँ, और तुम्हें पता है कि सैनफ्रै-स्को में मोलोटोव ने कह दिया है कि 'हिन्दुस्तान को आजाद कर चहिए।' कॉंग्रेस कर सकी थी इस तरह की कोई बात ?

[आफ़ताफ़ जबरदस्ती अपनी हँसी रोकता है। उसी समय प्रेमचन्द के

साथ तारा रानी का प्रवेश। तारा रानी बहुत ही सुन्दर पोशाक पहने है। बनाव-सिंगार भी उसने कम नहीं किया है। मिस्टर प्रेमचन्द स्वच्छ, पर सादी पोशाक में हैं। परिचय की औपचारिता एक बार और पूरी की की जाती है।]

अवस्थी—[प्रेमचन्द से] आपसे तो मुझे आशा थी कि आप सबसे पहले यहाँ पहुँच जाएँगे।

प्रेमचन्द—[तारा की ओर इशारा कर] इन्होंने मुझे अपने यहाँ बुला लिया था और कहा था कि एक साथ क्लब चलेंगे। और चलते हुए स्त्रियों को थोड़ा-बहुत समय लग ही जाता है।

प्रभा—[ज़रा खीझ के साथ] मगर हम लोगों को तो समय लगा नहीं, मिस्टर प्रेमचन्द!

प्रेमचन्द—[ज़रा मुस्काकर] आप तो सुबह स्टूडियो जाते समय ही तैयार होकर गई होंगी और स्टूडियो में तो बनाव-सिंगार के अतिरिक्त और काम ही क्या होता है!

प्रभा—आप तो सिर्फ किताबें ही लिख सकते हैं, मि० प्रेमचन्द! स्टूडियो में क्या होता है, इसका आपको क्या पता!

प्रेमचन्द—बात तो आपने ठीक कही। मुझे क्या मालूम कि स्टूडियो में क्या-क्या होता है! -[हँसी]

[इसी समय नाच शुरु होता है। अवस्थी और शीला तथा दयानाथ और प्रभा लकड़ी के फर्श पर नाच के लिए चले जाते हैं। एक बैरा आकर सब लोगों से आर्डर ले जाते हैं कि किसे क्या-क्या चाहिए। चन्दूलाल और सूरी मुस्कराकर तारा की ओर देखते हैं। सहज मीठी मुस्कान से वह उनका जवाब देती हैं परन्तु इसी मुस्कान से यह स्पष्ट हो जाता है कि-कम-से कम इस समय किसी के साथ नाचने के लिए वह तैयार नहीं है। तश्तरी में से एक सैण्डविच उठाकर वह उसे कुतरने लगती हैं। चन्दूलाल तारा के सौंदर्य से विशेष रूप से प्रभावित हुआ है। वह उसकी ओर पेस्ट्रियाँ बढ़ाता है, मगर वह धन्यवादपूर्वक इन्कार कर देती हैं।)

प्रेमचन्द—तुम यहाँ सब लोगों को अच्छी तरह जानती हो न तारा!

तारा—जी नहीं। सेठ चन्दूलाल और मेजर आफ़ताफ़ से मैं आज पहली बार परिचित हुई हूँ।

(मूरी मेजर आफ़ताफ़ का प्रेमचन्द से परिचय करवाता है, मगर मेजर प्रेमचन्द में विशेष दिलचस्पी प्रकट नहीं करता। इसी समय इन्द्रप्रकाश का प्रवेश। इन्द्रप्रकाश सबको नमस्कार करता है। कोई खड़ा नहीं होता। जो लोग उसे जानते हैं, वे जरा-सा सिर हिलाकर उसे नमस्कार का जवाब देते हैं। कोई किसी से उसका परिचय नहीं करवाता।)

मूरी—आप बहुत देर से आए, मि० इन्द्र ! आपकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर मिसेज भल्ला ने मेजर आफ़ताफ़ को अपनी पार्टी में मिला लिया ! हाँ, यह हैं प्रसिद्ध रेडिकल डेमोक्रेट मि० इन्द्रप्रकाश नैपचून बीमा-कम्पनी के एजेन्ट, और यह हैं मेजर आफ़ताफ़। (दोनों का परस्पर सिर झुकाना।)

इन्द्र—क्या कहा श्रीमती भल्ला ने ?

आफ़ताफ़—यही कि अब जमाना कम्यूनिस्टों के साथ है। आप रैडिकल डेमोक्रेट भी तो मार्क्सिज्म को मानते हैं न, मि० इन्द्र ?

इन्द्र—हाँ, मार्क्सिज्म तो ठीक है, मगर यह हिन्दुस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी असल में मार्क्सिस्ट ही कहाँ है ! एक-से-एक बढ़कर गधे भरे हुए हैं, इसमें।

स्नेहभूषण—(मुस्कराकर) रैडिकल पार्टी का बाड़ा तो फिर बिल्कुल खाली हो गया होगा, मि० इन्द्र ?

इन्द्र—आप भी कम्यूनिस्ट हैं क्या ?

स्नेह—गधा तो जरूर हूँ, मगर यह मालूम नहीं कि किससे बढ़कर।

इन्द्र—क्षमा कीजिएगा, मेरा मतलब किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप करने का नहीं था।

आफ़ताफ़—आप यह बताने की कृपा करेंगे, मि० इन्द्र, कि आप में और कम्यूनिस्टों में आधारभूत भेद क्या है ?

इन्द्र—हम लोग देश में पीपुल्स (जनता) का राज चाहते हैं। और कम्यूनिस्ट तो असल में काँग्रेस के हाथ के खिलौने हैं। वही काँग्रेस, और पटेल-जैसे फ़ासिस्ट जिसके नेता हैं।

आफ़ताफ़—(ज़रा चौंककर) गांधी जी फासिस्ट हैं, यह तो मैंने आज पहली वार सुना !

इन्द्र—मालूम होता है, आप कभी अखबार नहीं पढ़ते ! 'वेन्गार्ड' कभी देखा आपने ? अगर आप स्टडी करें, तो आपको मालूम हो जायगा कि गांधी तो हिटलर और मुसोलिनी से भी वढ़कर नाजी और फासिस्ट है। मुझे तो आश्चर्य है कि उसे अभी तक 'वार क्रिमिनल' क्यों घोषित नहीं किया गया !

(इन्द्र पूरी गम्भीरता से वह वात कहता है, परन्तु सव लोग वरवस इतनी जोर से हँस पड़ते हैं कि आस-पास के लोगों का ध्यान भी उनकी तरफ खिच जाता है।)

आफताफ़—क्षमा कीजिये, आपने मेरी वात का जवाव नहीं दिया। मैंने पूछा था कि रैडिकल्स और कम्यूनिस्टों में आधारभूत भेद क्या है ?

इन्द्र—यही तो मैं वता रहा हूँ। आप जरा समझने की चेष्टा कीजिए, हिन्दुस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी का अपना कोई कार्यक्रम ही नहीं।

स्नेहभूषण—क्षमा कीजिएगा, आप फिर कम्यूनिस्टों की आलोचना करने लगे। आप अपना कोई कार्यक्रम समझाइए, और वताइए कि वह कार्यक्रम मार्क्सिज्म तथा समानता के आदर्शों के अनुकूल है।

इन्द्र—रूस के आदर्श ! आप क्या कह रहे हैं, मि० भूषण ! आपको मालूम है कि अव तो स्टालिन ने भी यह स्वीकार कर लिया है कि मार्क्स और लेनिन की फ़िलासफ़ी को यदि किसी ने ठीक से समझा है, तो सिर्फ श्री एम० एन० राय ने !

(इस वात पर फिर से एक क़हक़हा पड़ता है। मि० इन्द्र गुस्सा हो जाते हैं।)

आफ़ताफ़—आप किस बीमा-कम्पनी का प्रतिनिधित्व करते हैं, मि० इन्द्र ?

इन्द्र—आपसे मतलब ?

आफ़ताफ़—वह कम्पनी बड़ी खुशकिस्मत है !

(इसी वक़्त नाच समाप्त हो जाता है और सव लोग अपनी-अपनी जगह

वापस आ जाते हैं। स्त्रियों के बैठने तक लोग खड़े रहते हैं। अवस्थी के अतिरिक्त इन्द्र की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देते।)

अवस्थी—आप बहुत गम्भीर क्यों हो रहे हैं, मि० इन्द्र?

इन्द्र—नहीं, मैं गम्भीर तो नहीं हूँ।

अवस्थी—मिसेज भल्ला को आप समझाने की कोशिश कीजिए मि० इन्द्र।

सूरी—मिसेज भल्ला को तो नहीं, मगर मेजर आफताफ को ये अपनी बात खूब अच्छी तरह समझा चुके हैं!

अवस्थी—अच्छा? (बैरे से) सब लोगों से आर्डर ले जाओ, ब्वाय!

(प्रान्तीय असेम्बली के सदस्य सरजू भाई पटेल का प्रवेश। पटेल साहब सिर से पैर तक खद्दर की स्वच्छ पोशाक में हैं। उनके सिर पर गांधी टोपी है। स्त्रियों को छोड़कर सभी लोग खड़े होकर उनका स्वागत करते हैं। मि० पटेल पुरुषों को सिर हिलाकर और स्त्रियों को हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं।)

पटेल—मुझे क्षमा कीजिए, अवस्थी साहब! कारपोरेशन की बैठक में मुझे अधिक समय लग गया। और मुझे खेद है कि मैं अधिक देर तक यहाँ ठहर भी नहीं सकूँगा। नगर कांग्रेस के पुनः संगठन के सम्बन्ध में अभी हमें बहुत कुछ करना है।

अवस्थी—आप चले आए, यही क्या कम है। हृदय से मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

प्रेमचन्द—आपने आज यहाँ अच्छी खासी आल पार्टीज कान्फरेन्स जमा कर ली है, मि० अवस्थी!

शीला—आशा है, आप नाचना भी जानते होंगे, मि० पटेल?

पटेल—जब मैं विलायत में था, तो बालरूम डान्सिंग सीखा था, मगर अब तो अवकाश ही नहीं मिलता और फिर यह काम तो जवानों का है, मैं तो बूढ़ा हुआ।

शीला—यही तो मुश्किल है। हमारे देश में ५० के आस-पास

अवस्थी—आपका मतलब मैं नहीं समझा।

प्रेमचन्द—मेरा मतलब यह है कि ये जो बहुत-से जोड़े यहाँ नाच कर रहे हैं, इनमें से ६५ प्रतिशत को न तो नाच का चाव है और न ठीक तरह नाचना ही आता है। फिर भी वे नाचते हैं, केवल इसलिए कि नाच आजकल की सभ्य सोसाइटी का एक फैशन बन गया है।

दयानाथ—केवल फैशन ही नहीं, नाच में विरोधी सैक्स का आकर्षण भी तो है!

प्रेमचन्द—यह मैं मानता हूँ। मगर नाच की लोकप्रियता का यह कारण निरी सेक्स-काम्प्लेक्सिटी नहीं तो क्या है?

चन्दूलाल—आप लोग तो बड़ी गम्भीर बातें करने लगे, प्रोफेसर साहब! कुछ पीजिए भी तो।

दयानाथ—मुझे एतराज नहीं। धन्यवाद।

(चन्दूलाल बैरे से शराब लाने को कहता है।)

अवस्थी—मि० 'क' तो कॉंग्रेस-मिनिस्ट्री में अब न रह सकेंगे, मि० पटेल! अब उनकी जगह कौन साहब होममिनिस्टर बनेंगे।

पटेल—(ज़रा मुस्कराकर) लोग इस सम्बन्ध में मेरा नाम खुले तौर से ले रहे हैं। मगर इस तरह की कल्पनाओं और सवालों से लाभ ही क्या है?

(अवस्थी, सूरी और चन्दूलाल बड़े सन्मान भाव से मि० पटेल की ओर देखते हैं। बैरा आकर मेज पर शराब के गिलास रख जाता है।)

दयानाथ—आप शराब नहीं पीते मि० पटेल?

पटेल—हमारा बस चले तो बम्बई में फिर से पाबन्दी हो जाय। (ज़रा मुस्कराकर) और वह जमाना अब आने ही वाला है।

इन्द्र—यह सब ढकोसला है। दुनियाँ भर के और सब सवाल छोड़ कर काग्रेस भोले-भाले हिन्दुस्तानियों के धार्मिक अन्ध-विश्वासों का लाभ उठाने के लिए शराब-बन्दी जैसे एकदम व्यर्थ के सवाल को अपना बैठी है।

पटेल—(दयाराम से) यह कौन महाशय हैं?

दयानाथ—नैपचून के एजेण्ट मि० इन्द्रप्रकाश, स्थानीय रैडिकल पार्टी के मन्त्री।

पटेल—ओहो, तो ये रैडिकल डैमोक्रेट हैं! आप ठीक कहते हैं, महाशय!

(शीला और आफताफ़ वापस आते हैं। शीला अपनी कुर्सी पर बैठते हुए—)

शीला—ओह मैं कितना थक गई! (मेज पर से स्वयं शराब का एक गिलास उठा लेती है और सिप करने लगती है।)

तारा—आप चुप क्यों हो गए, मि० इन्द्र?

इन्द्र—इन से बहस करने से लाभ?

शीला—क्या बात हो रही थी, मि० प्रेमचन्द?

प्रेमचन्द—मि० इन्द्र का कहना है कि शराब-बन्दी एक ढकोसला है।

शीला—शराब-बन्दी तो ढकोसला है ही। काँग्रेस में केवल यही एक ढकोसला नहीं, बीसों ढकोसले हैं। मालूम होता है, काँग्रेस की नींव ही ढकोसलों पर डाली गई है।

(मि० पटेल घृणाभाव से मुस्करा देते हैं।)

प्रेमचन्द—और क्या-क्या ढकोसले हैं काँग्रेस में?

शीला—यह सत्य, यह अहिंसा, यह लंगोटी बाँधकर रहने की पूजा, यह चरखा, यह तकली और यह खद्दर—यह सब ढकोसले नहीं, तो और क्या हैं? हिन्दुस्तान की भोली-भाली जनता को खूब बेवकूफ बनाया है इन काँग्रेस वालों ने।

प्रेमचन्द—यह आपकी ज्यादती है, मिसेज भल्ला! काँग्रेस की लोकप्रियता का मूल उसकी राष्ट्रीयता में है और उसके कार्यकर्ताओं के त्याग में है। हिन्दुस्तान की जगी हुई राष्ट्रभावना का यह कांग्रेस प्रतिनिधित्व करती है। यह चरखा-खद्दर तो कांग्रेस में पिछले २५ बरसों से आए हैं। उससे पहले भी तो काँग्रेस इस देश की सबसे बड़ी राजनैतिक जमात थी।

शीला—उंह, १६२१ से पहले की काँग्रेस को तो स्वयं काँग्रेस-

दयानाथ—नैपचून के एजेण्ट मि० इन्द्रप्रकाश, स्थानीय रैडिकल पार्टी के मन्त्री।

पटेल—ओहो, तो ये रैडिकल डैमोक्रेट हैं! आप ठीक कहते हैं, महाशय!

(शीला और आफताफ़ वापस आते हैं। शीला अपनी कुर्सी पर बैठते हुए—)

शीला—ओह मैं कितना थक गई! (मेज पर से स्वयं शराब का एक गिलास उठा लेती है और सिप करने लगती है।)

तारा—आप चुप क्यों हो गए, मि० इन्द्र ?

इन्द्र—इन से वहस करने से लाभ ?

शीला—क्या बात हो रही थी, मि० प्रेमचन्द ?

प्रेमचन्द—मि० इन्द्र का कहना है कि शराब-बन्दी एक ढकोसला है।

शीला—शराब-बन्दी तो ढकोसला है ही। काँग्रेस में केवल यही एक ढकोसला नहीं, बीसों ढकोसले हैं। मालूम होता है, काँग्रेस की नींव ही ढकोसलों पर डाली गई है।

(मि० पटेल घृणाभाव से मुस्करा देते हैं।)

प्रेमचन्द—और क्या-क्या ढकोसले हैं काँग्रेस में ?

शीला—यह [illegible] यह अहिंसा, यह लंगोटी बाँधकर रहने की पूजा,
यह चरखा, यह ... ढकोसले नहीं, तो
और क्या हैं ? ... को खूब बेवकूफ
बनाया है इन ...

प्रेमचन्द— ... ! काँग्रेस की लोक-
प्रियता का मूल ... यकर्ताओं के त्याग
में है। हिन्दुस्ता ... कांग्रेस प्रतिनिधित्व
करती है। यह चरखा-खद्दर तो कांग्रेस में पिछले २५ बरसों से आए हैं। उससे पहले भी तो काँग्रेस इस देश की सबसे बड़ी राजनैतिक जमात थी।

शीला—ऊंह, १९२१ से पहले की काँग्रेस को तो स्वयं काँग्रेस-

वाले एक लिबरल जमात गिनते हैं। काँग्रेस जब से शक्ति-शाली बनी है, उसमें चरखा, खद्दर, सत्य, अहिंसा के ढकोसले पहले दिन से आ घुसे हैं बल्कि इन्हीं ढकोसलों से उसे बल मिला है। तभी तो मैं कहती हूँ कि काँग्रेस अब समाप्त हो गई। आज का हिन्दुस्तान बेवकूफ नहीं रहा। उसे रूस ने प्रकाश दिखा दिया है।

प्रेमचन्द—यदि सत्य और अहिंसा ढकोसले हैं तो आप मारकाट, झूठ और षड्यन्त्रों को ही जीवन की वास्तविकता मानती होंगी !

(सब लोग हँस पड़ते हैं और मि० पटेल अपनी घड़ी की ओर देखकर सहसा खड़े हो जाते हैं।)

पटेल—(अवस्थी से) बहुत देर हो गई। मुझे आवश्यक रूपसे जाना है, मि० अवस्थी ! क्षमा कीजिएगा।

अवस्थी—यहाँ किसी से कोई गुस्ताखी हुई हो तो माफ कर दीजिएगा !

पटेल—नहीं, नहीं। ऐसी कोई बात नहीं है।

(सबका प्रणाम स्वीकार करते हुए प्रस्थान । अवस्थी उन्हें बाहर तक छोड़ने जाता है।)

शीला—देखा, कितना दम्भ है इन काँग्रेस वालों में !

प्रेमचन्द—इसमें दम्भ की तो कोई बात नहीं, मिसेज भल्ला। मि० पटेल को काम था, सो वे चले गए।

शीला—आपने देखा नहीं, मेरी किसी बात का उन्होंने कोई जवाब तक नहीं दिया।

चन्दूलाल—वे जवाब देते कहाँ से ? आप की बातों का कोई जवाब सम्भव हो, तभी तो दें।

(इसी समय एक युवती तारा के पास आ जाती है। चन्दूलाल पहचानता है कि यह वही युवती है, जो उस दिन नूरी के साथ नाची थी। नूरी उसकी ओर देखकर मुस्कराता है मगर वह नूरी की ओर देखती भी नहीं, जैसे वह उसे पहचानती ही न हो।)

तारा—आप किस टेबल पर हैं, उमा बहन ?

उमा—मैं मि० कृपलानी आई० सी० एस० के साथ आई हूँ। तुम

भी इस क्लब में अब नियमित रूप से आने लगीं तारा ! तो फिर क्लब की मैम्बर क्यों नहीं बन जातीं ?

(उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना उमा का प्रस्थान । जब तक उमा वहाँ रहती है, सब लोग खड़े रहते हैं । उसके जाने पर सब बैठ जाते हैं ।)

चन्दूलाल—(सूरी से) ओहो मेरे यार, उसने तो आज तुम्हें पहचाना भी नहीं । तुम कहते थे मेरी पुरानी मित्र है !

सूरी—(झेंपकर) मालूम होता है उसने मुझे देखा नहीं !

(इन्द्र का चुपचाप किसी से कुछ भी कहे बिना प्रस्थान । कोई उस ओर ध्यान नहीं देता । नाच समाप्त हो जाता है । स्नेहभूषण और प्रभा अपनी जगह वापस आ जाते हैं । अवस्थी बैरेको और शराब लाने का आर्डर देता है ।)

अवस्थी—(शीला से) आपने खूब खबर ली उस बुड्ढे की !

शीला—तभी तो उठकर चला गया । ये शराब नहीं पीते ! ढोंगी कहीं के !

अवस्थी—हाँ ढोंगी तो हैं ही । कहीं यही मि० पटेल होममिनिस्टर न बन जायँ ! (सहसा जैसे वह घबरा जाता है और सूरी से कहने लगता है) देखना मेरे यार, कहीं मेरी शिकायत न कर देना मि० पटेल से । तुम अखबारवाले किसी को नहीं छोड़ते !

प्रेमचन्द—(मुस्कराकर) और आप व्यापारी लोग भी मौका पड़ने पर किसी के नहीं होते ।

अवस्थी—(सूरी से) अरे वह बीमा-एजेण्ट कहाँ चला गया ?

चन्दूलाल—अरे यार, तुम भी कैसे-कैसे अहमकों को निमन्त्रित कर लेते हो, अवस्थी ।

(अवस्थी बड़े अभिमान और संतोष के साथ मुस्कराता है ।)

सूरी—अभी आप क्लब के मैम्बर नहीं बने मि० प्रेमचन्द ?

प्रेमचन्द—नहीं । मैं न मैम्बर बना हूँ और न बनने का इरादा है

सूरी—क्यों, कोई महिला पार्टनर नहीं है क्या ? मिस तारा के साथ आप मैम्बर बन जाइये ।×

× इस कौस्मोपौलिटन क्लब का मैम्बर बनने के लिए एक पुरुष और एक स्त्री का एक साथ प्रार्थना-पत्र भेजना आवश्यक है—चाहे परस्पर को

प्रेमचन्द—यह बात नहीं है। मैं मैम्बर बनना चाहूँगा तो मुझे पार्टनर की कमी न रहेगी।

अवस्थी—तो फिर आप मैम्बर क्यों नहीं बनते ?

प्रेमचन्द—यही कि इस क्लब के वातावरण में ६६ प्रतिशत मात्र दिखावा है। सब कोई अपने को दूसरों से अधिक बड़ा और अधिक महत्वपूर्ण दिखाना चाहते हैं। सामने सब लोग एक-दूसरे के मित्र हैं, मगर पीठ-पीछे सब एक-दूसरे के दुश्मन। न यहाँ कला का वातावरण है, न साहित्य का और न बौद्धिकता का ही। इस क्लब का मैम्बर बनकर क्या करूँगा ?

(अवस्थी, चन्दूलाल और नूरी प्रेमचन्द की ओर इस निगाह से देखते हैं, जैसे वे कोई बेवकूफी की बात कर रहे हों।)

शीला—तो आपका मतलब है कि नगर-भर के जितने प्रतिष्ठित नागरिक यहाँ आते हैं, वे सब-के-सब दिखावट-पसन्द और साहित्य-कला-विहीन हैं ?

प्रेमचन्द—नहीं मिसेज भल्ला, शहर-भर के ये सब तथा-कथित प्रतिष्ठित नागरिक यहाँ अपना-अपना उल्लू सीधा करने आते हैं। कोई अपना व्यक्तिगत लाभ देख कर, कोई किसी से परिचय बनाने के लिये और कोई अपने विचारों का प्रचार करने के लिए। आप ही बताइए मिसेज भल्ला, एक कम्यूनिस्ट होकर शहर के प्रतिष्ठित नागरिकों को आप यह महत्ता क्यों दे रही हैं ? अपने विचारों का प्रचार करने के लिए ही तो ?

अवस्थी—आप बड़ी गम्भीर बातें करने लगते हैं, मि० प्रेमचन्द ! शराब न पीने में यही तो दोष है।

(इसी समय फिर से नाच शुरू होता है। यह अन्तिम नाच है। दयानाथ और शीला तथा आफताफ़ और प्रभा नाच के लिए चले जाते हैं। इसी समय प्रेमचन्द और तारा सबसे छुट्टी माँगकर क्लब से चले जाते हैं।)

चन्दूलाल—यह भी अच्छा ढोंगी आदमी है ! एक खूबसूरत छोकरी को साथ लिए-लिए घूमता है और हमें लेक्चर फटकारता है !

सूरी—यह छोकरी कौन है ?

अवस्थी—(जरा मुस्करा कर) इतना भी नहीं समझते यार ! शादी तक तो हुई नहीं और इतनी रात तक पराये मर्दों के साथ घूमती रहती है। खुद समझ लो कि यह कौन है ?

(स्नेहभूषणको यह चर्चा पसन्द नहीं, इससे वे अपने एक मित्र से मिलने एक और टेवल पर चले जाते हैं। इस टेवल पर अब अवस्थी, सूरी और चन्दूलाल ही बच रहते हैं। ये लोग अब बहुत निकट बैठ कर धीरे-धीरे बातें करने लगते हैं।)

चन्दूलाल—अरे शीला को देखा तुमने ! कितना पीती है ! मर्दों के भी कान काटती है, मेरे यार !

सूरी—और यह प्रभा ही कौन कम है ?

अवस्थी—एक ही थैली की चट्टियाँ-बट्टियाँ हैं सब।

चन्दूलाल—इनके पति कैसे बछिया के ताऊ हैं। शर्म नहीं आती इन नालायकों को ! हमारी बहू अगर क्लब में आए तो हम उसका सिर उतार लें।

सूरी—क्यों आप सारे क्लब को नीरस बना देना चाहते हैं सेठ साहब ?

चन्दूलाल—नहीं, मेरे यार, मैं तो यों हीं एक बात कहूँ हूँ !

अवस्थी—अजी सेठ साहब आप नाचना क्यों नहीं सीखते ?

चन्दूलाल—अच्छा, अबके सीखने की कोशिश करूँगा। बगल में महरियाको साथ लेकर नाचना है तो मजेदार !

(शीला और दयानाथ टेवल पर वापिस आजाते हैं।)

शीला—तुम तो नाचना ही भूल गए। वाल्ट्ज नाच में तुमने तो मेरा पैर ही कुचल दिया !

(शीला और दयानाथ टेवल पर वापस आकर पीने लगते हैं। स्नेहभूषण भी अपनी टेवल पर वापस आ जाते हैं। उनके साथ एक वृद्ध सज्जन हैं। स्नेहभूषण उनका सबसे परिचय करवाते हैं: 'ये हैं मि० भारद्वाज, रिटायर्ड आई० सी० एस०.' 'हाउ ड य ड !' इत्यादि।)

अवस्थी—आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

भारद्वाज—आपको मैंने पहले भी कहीं देखा है!

अवस्थी—जी, मैं तो रोज ही इस क्लब में आता हूँ।

भारद्वाज—हाँ, जब मैं चम्पारन में डिप्टी-कमिश्नर था, तो मैंने वहाँ के क्लब में एक नियम बना दिया था। नहीं, चम्पारन में नहीं, सारन में।···मैं क्या कह रहा था?

दयानाथ—आप कुछ पियेंगे।

भारद्वाज—नहीं धन्यवाद। मगर हाँ, एक पैग शैम्पेन ले लेने में कोई हर्ज नहीं। मैं जब झाँसी में कमिश्नर था तब मैंने ही पहले पहल····। हाँ, मैं झाँसी का पहला हिन्दुस्तानी कमिश्नर था। (दयानाथ से)' मैंने आपको कहीं देखा है!

दयानाथ—जी, आपने किसी और को देखा होगा।

भारद्वाज—इस क्लब के मैम्बर नहीं हैं क्या?

दयानाथ—जी, मैं इस क्लब का वाइस-प्रेसीडेंट हूँ।

भारद्वाज—हः हः हः मेरी याददाश्त देखिए, अभी तक मुझे धोखा नहीं देती। मैंने आपसे कहा था न कि मैंने आपको कहीं देखा है।

(इसी वक्त भारद्वाज की निगाह किसी और टेबल की ओर चली जाती है, और दूर ही से 'हल्लो' कह कर शराब का इन्तजार किये बिना वे उसी ओर बढ़ जाते हैं।)

दयानाथ—हमारे देश के ये अवसर-प्राप्त आई० सी० एस० संसार के सबसे अधिक दयनीय प्राणी हैं।—एक ऐसा कोबरा साँप, जिसका ज़हर का दाँत निकाल दिया हो।

स्नेहभूषण—यह हजरत अपनी टेबल पर मुझसे कह रहे थे कि मैं प्रो० दयानाथ को जानता हूँ। मैंने उनके लेख भी पढ़े हैं।

(इसी समय नाच समाप्त हो जाता है। प्रभा और आफताफ़ भी वापस आ जाते हैं।)

दयानाथ—अब आप छुट्टी दीजिए, मि० अवस्थी!

अवस्थी—अजी जनाब, इतनी जल्दी क्या है?

दयानाथ—मुझे इसी समय रेडियो-स्टेशन से एक भाषण देना है। नाच तो अब समाप्त हो ही चुका। यदि आप लोग बैठे रहना चाहें, तो मुझे छुट्टी दीजिए।

शीला—मैं भी चलती हूँ।

अवस्थी—आपको रेडियो-स्टेशन जाना है क्या?

शीला—ओह, यह रेडियो-स्टेशन जा रहे हैं। (दयानाथ से) अच्छा आप चलिए, मैं घर पहुँच जाऊँगी।

दयानाथ—बहुत ठीक!

(सबसे विदा लेकर प्रस्थान)

(क्लब से बहुत से लोग चले गये हैं और बहुत से चलने की तैयारी में हैं। इस टेबल पर शराब पीने की रफ्तार बढ़ गई है और बातचीत कम हो गई है। मिसेज भल्ला और आफताफ़ को छोड़ कर सभी लोग बहकने लगते हैं।)

चन्दूलाल—क्यों भाई अवस्थी, यह तुम्हारा क्लब कैसा मनहूस है?

अवस्थी—क्यों, क्या बात हो गई, सेट साहब?

चन्दूलाल—विलायती शराब के नाम पर साले पानी देते हैं, पानी! कुछ लुत्फ ही नहीं! कुछ सरूर ही नहीं आता!

सूरी—सेठ साहब तो बहक गए!

चन्दूलाल—(स्नेहभूषण की ओर देख कर) कौन साला कहता है, हम बहक गए? हम तो पानी पी रहे हैं, निरा पानी!

सूरी—(अवस्थी से) आपने गालिब का यह शेर तो पढ़ा होगा...

अवस्थी—कौन-सा?

सूरी—अगले वक्तों के हैं ये लोग उन्हें कुछ न कहो!

स्नेहभूषण—गालिब का यह शेर आप को याद है, मि० सूरी?

जब मैकदा छूटा तो जगह की क्या कैद?
मस्जिद हो, मदरसा हो, कोई खानकान हो?

(सूरी बहक कर पहले कुछ गुनगुनाने लगता है, फिर गाने लगता है

"अगले वक्तों के हैं" आदि। क्लब में तमाशा-सा बन जाता है। प्रभा चुपचाप पी रही है। शराब उस पर भी सवार है, मगर वह चुप है। शराब पीते हुए चुप रहने का शुरू से उसने अभ्यास किया है। आफताब और शीला पी रहे हैं, मगर वे अभी तक शराब के बस नहीं आए। अवस्थी बहकता है, मगर सिर्फ हँस रहा है, बिलकुल बेवकूफों की हँसी। स्नेहभूषण को भी पीते हुए चुप रहने का अभ्यास है। मगर मालूम होता है, सूरी को गाता देखकर उसका मुद्दत का अभ्यास फेल हो जाता है। वह भी 'जब मैकदा छूटा' आदि गाने लगता है। सूरी और अवस्थी दोनों एक-दूसरे को अपना शेर सुनाना चाहते हैं, मगर कोई सुनना नहीं चाहता। नतीजा यह होता है कि दोनों की आवाज ऊँची होती है। क्लब में तमाशा-सा बन जाता है।)

शीला—(जरा रोब के साथ) आप लोग भले-मानसों का-सा सुलूक कीजिए! गाना बन्द करो, सूरी। यह क्लब है।

चन्दूलाल—हाँ ! मेरे बाप का क्लब है। गाओ सूरी, खूब गाओ। देखें, कौन साला तुम्हें रोकता है!

शीला—होश में आओ, चन्दूलाल।

(इसी वक्त क्लब का सेक्रेटरी वहाँ आकर उन लोगों से प्रार्थना करता है कि वे बाल-रूम से उठकर किसी एकान्त कमरे में या अपने घर चले जायँ।)

शीला—मुझे बड़ा अफसोस है, सेक्रेटरी साहब, इन लोगों ने पहले कभी इस तरह का व्यवहार नहीं किया।

(चन्दूलाल, सूरी, स्नेहभूषण और अवस्थी फिर से चीखने, गाने और हँसने लगते हैं। बड़ी कठिनता से क्लब के बैरों की सहायता लेकर शीला और आफताब उन सबको क्लब के बाहर कारों की ओर ले जाते हैं। प्रभा-को किसी की सहायता की जरूरत नहीं पड़ती।)

समस्या-नारी

(श्री पृथ्वीनाथ शर्मा)

पात्र-परिचय

रामदयाल—४५ वर्ष का एक व्यक्ति।
नन्द—५० वर्ष का एक व्यक्ति।
पहाड़ी—
नौकर—

(*समय*—प्रातःकाल। *स्थान*—एक कमरा, जिसमें उच्चकोटि का फारस का लाल रंग का क़ालीन बिछा हुआ है। सोफा-सेट भी क़ीमती है। मध्य में एक तिपाई है, जिसका ऊपरी भाग शीशे का है। उस पर एक फूल-दान में नरगिस के कुछ फूल रखे हैं, जो लगभग मुरझाए-से हैं। कमरे का बाक़ी का दृश्य भी अस्त-व्यस्त-सा है। फ़र्श पर दो-तीन किताबें, दो-एक पत्रिकाएँ, दो-एक दैनिक पत्र बिखरे-से पड़े हैं। कोने में एक उत्तम रेडियो तिपाई पर रखा हुआ है। उस पर कीमती रेशमी कपड़े का आवरण पड़ा हुआ है, किन्तु वह उसे पूर्णरूपेण ढाँप नहीं पाया है। रेडियो का कुछ भाग आवरण में से झाँक-सा रहा है। एक सोफे पर बैठा है नंदलाल, जिसकी आयु लगभग पचास वर्ष की होगी। मूल्यवान् गरम सूट पहने है। सिल्क की भूरे रंग की नेकटाई है और सफेद सिल्क की ही कमीज है। रंग उसका गेहुँआ है, पर मुखाकृति सुन्दर तथा गम्भीर है। उस से थोड़ा हटकर खड़ा है रामदयाल, जिसकी आयु लगभग पैंतालीस वर्ष की होगी। हल्के ग्रे रंग का सूट है और भड़कीली लाल रंग की नेकटाई। रंग उसका साँवला है, शरीर पतला तथा मुख हँसोड़।)

राम—(हँसते हुए) यह तुम्हें सूझी क्या? गधे को कौन घोड़ा बना सकता है?

नंद—(गंभीर स्वर में) गधे को घोड़ा ? वह कैसे ? मैं तो दूध-से श्वेत फूल में रंग भरना चाहता हूँ। क्या यह संभव नहीं ?

राम—फूल कागज़ का तो नहीं, जो तुम्हारी अँगुलियों के संकेतों का अनुसरण करेगा। वह तो एक जीती-जागती प्रतिमा है, जो पग-पग पर तुम्हारा विरोध करेगी। एक पहाड़ी अपढ़ मूर्ख लड़की को तुम सुसंस्कृत महिला में परिणत करना चाहते हो ? अनेक वर्षों से, अनेक जन्मों से उसकी नस-नस में समाए हुए अज्ञान को तुम्हारे ये नर्सरी स्कूल, ईसाई-मिशनरियों द्वारा प्रस्तुत ये कॉनवेंट कैसे छिन्न-भिन्न कर सकेंगे, यह मेरी समझ में नहीं आता !

नंद—(व्यंग से) तुम्हारी समझ से परे भी तो संसार में बहुत-सी बातें हैं, यह क्यों भूलते हो ?

राम—(नंदलाल के कथनको अनसुना करके) और फिर जो-कुछ तुम ने किया है, उस से आ जाने वाली विषमता पर भी तो ध्यान दे लो।

नंद—कैसी विषमता ?

राम—तुम मेले में खोई हुई एक लड़की को पकड़ लाए हो, क्योंकि उसके सौंदर्य ने तुम्हें आकर्षित किया, और तुम अपने धन द्वारा उसे सभ्य समाज का मूल्यवान अंग बनाने का परीक्षण करना चाहते हो। पर कल उसे ढूँढ़ते हुए उस के घर के लोग यदि तुमसे जवाब माँगें, तो क्या करोगे ?

नंद—उस के घर का कोई है ही नहीं। एक रिश्ते की मामी अवश्य है, पर वह तो उससे छुटकारा पाकर खुश ही हुई होगी।

(इतने में नौकर प्रवेश करता है और नंदलाल की ओर देखता है।)

नंद—क्यों ?

नौकर—साहब।

नंद—कहो।

नौकर—हजूर, वह लड़की मक्खन, टोस्ट, बिस्कुट को तो छूती ही नहीं, भूखी बैठी है।

(रामदयाल के मुख पर मुस्कराहट की एक लम्बी रेखा खेल उठती है, पर वह कहता कुछ नहीं।)

नंद—(नौकर से) क्या कहती है ?

नौकर—मक्की और बाजरे की रोटी तथा नमकीन लस्सी की रट लगाए है। इस के बिना उस की भूख न मिट सकेगी।

नंद—(शांत स्वरमें) मक्की और बाजरे का आटा बाज़ार से ले आओ और लस्सी के लिए यदि घर पर दही न हो, तो वह भी लेते आना। क्या दर्जी अभी तक नहीं आया ?

नौकर—बहुत अच्छा। दर्जी तो अभी नहीं आया।

(बाहर चला जाता है)

राम—(खिलखिलाकर हँसते हुए) जो आदत बचपन में पड़ गई हो, वह भला कब दूर होती है। अब कहो ?

नंद—यह तो मैं भी जानता था और है भी यह स्वाभाविक।

राम—इसलिए उसे जहाँ से लाए हो, वहीं छोड़ आओ। मेला आज भी चल रहा है। उसे उस की रिश्ते की मामी तक पहुँचाने वाला कोई-न-कोई अवश्य मिल जायगा।

नंद—यह असंभव है। उस नन्हें कोमल फूल को उस अज्ञता के सागर में अब फिर न फेंक सकूँगा।

(इतने में बारह-तेरह वर्ष की एक लड़की प्रवेश करती है। मैला-कुचैला चुस्त पायजामा तथा फटा-पुराना कुरता पहने हुए है। कुरते के ऊपर एक बहुत बढ़िया नीले रंग का स्वेटर पहने है। सिर पर की ओढ़नी भी नीले रंग के बढ़िया सिल्क की है। उसका रंग दूध-सा श्वेत, त्वचा रेशम-सी चिकनी, नेत्र गहरे भूरे रंग के तथा बड़े-बड़े, नाक तीखी और मस्तक प्रशस्त हैं। सिर के बाल भी भूरे हैं, किन्तु मैले और उलझे हुए हैं। वह लजाई-सी कभी नंदलाल की ओर देखती है और कभी रामदयाल की ओर। कुछ देर टुकर-टुकर देखने के उपरान्त वह नीचे फर्श पर धम् से बैठ जाती है।)

नंद—(सोफे की ओर संकेत करते हुए)वहाँ बैठो, रत्ती।

रत्ती—(आश्चर्य से) वहाँ ?

नंद—(आग्रह से, किन्तु कोमल स्वरमें)हाँ, उठो।

[रत्ती धीरे-धीरे उठती है और कुछ डरती-डरती सोफे की ओर बढ़ती है। उसके निकट पहुँचकर भी उस पर बैठने में हिचकिचाती है। फिर उसे हाथ से छूती है, तब उसकी दृष्टि नंदलाल पर जा पड़ती है।

कुछ घबराई-सी वह सोफ़े पर बैठ जाती है, ऐसे मानो उसे कष्ट हो रहा हो ।]

रत्ती—(नंदलाल से) देख लो, बैठ तो गई हूँ ।

नंद—अच्छा किया ।

रत्ती—(उत्सुकता से) मुझे नए कपड़े कब मिलेंगे ? तुम कहते थे कि आज जरूर मिल जायेंगे ।

नंद—हाँ, जरूर मिलेंगे ? दर्जी तुम्हारे कपड़े लेकर आता ही होगा ।

रत्ती—आहा, नए कपड़े । मैं दर्जी को बाहर देखूँ ?

नंद—जाओ, देखो ।

(रत्ती सोफे से उठकर इस भाँति बाहर की ओर भागती है, मानो किसी कैद से छुटकारा पाया हो । रामदयाल, जो अभी तक खड़ा था, नंदलाल के सामनेवाली कुर्सी पर बैठ जाता है ।)

राम—(सिर हिलाते हुए मुस्कराकर) अब ?

नंद—अब क्या ? तुम देखते चलो ।

राम—सो तो करना ही होगा । किन्तु किसी अच्छे-भले मनुष्य का—जब वह प्रिय सुहृद भी होगा—मस्तिष्क विकृत होते हुए भी तो नहीं देखा जाता ।

(नंदलाल मुस्कराकर चुप रह जाता है ।)

दूसरा दृश्य

[*समय*—संध्या के लगभग । *स्थान*—पहले दृश्यवाला कमरा । कमरे में नंदलाल और रामदयाल साथ-साथ एक सोफे पर बैठे हैं । दोनों मुँह में सिगरेट दबाए हुए हैं और उनके धुएँ से कमरे का वातावरण धुँधला-सा हो रहा है । इतने में नंदलाल उठकर बिजली का बटन दबाता है, जिससे तीक्ष्ण बल्ब की ज्योति धुएँ को चीर कर कमरे को प्रकाशमान करती है । सिगरेट का कश खींचता हुआ नंदलाल दो-एक पग कमरे में चलता है, फिर रामदयाल सामने खड़ा हो जाता है ।]

नंद—तो तुम्हारे विचार में मैं इस लड़की की कायापलट न कर सकूँगा ?

राम—कायापलट तो शायद कर सको; किन्तु उसका मानसिक अनुपात न बदल सकोगे, यह निश्चित है ।

नंद—मानसिक अनुपात ! (हँसता है) यह कोई सूखी लकड़ी तो है नहीं, जो मरोड़ने-झकझोरने से टूट जायगी । मनोविज्ञान द्वारा तो एक पशु भी मनुष्य में परिणत हो सकता है । यह लड़की तो, तुम मानोगे, एक चतुर मस्तिष्क की स्वामिनी है ।

राम—निस्संदेह । उसकी चतुरता ही तो तुम्हारी राह का सबसे बड़ा काँटा बनेगी, यह क्यों भूलते हो ?

नंद—उसे सुसंस्कृत करने में थोड़ी कठिनाई तो होगी, यह मैं मानता हूँ; पर सभ्यता का रूप धारण करने में उसे कुछ ही मास लगेंगे, यह भी निश्चित है । अब भी देखो कि पूरे एक सप्ताह से स्कूल में बिना किसी को कष्ट दिए पढ़ रही है ?

राम—सचमुच ?

नंद—बिल्कुल । 'भई, यह ईसाई-मिशनरी भी खूब हैं ! खोटी-से-खोटी धातु को भी ठोंक-पीटकर इस्पात बना देते हैं ।

(इतने में बाहर बरामदे में जोर से टेलीफोन की घंटी बज उठती है । नंदलाल तेजी से उधर की ओर बढ़ता है । रामदयाल कुछ देर तो ज्यों-का-त्यों बैठा रहता है । जब नंदलाल की टेलीफोन पर की बातचीत लंबी हो जाती है, तो उठकर टहलने लग जाता है । दर्शकों के सामने की दीवार पर दूर देश के प्राकृतिक दृश्य का एक चित्र टँगा है, उसे देखने लगता है । चित्र में पाइन के गगनचुंबी वृक्षों के पीछे ऊँचे-ऊँचे पहाड़, पर्वतों के साथ-साथ लाल रंग की उड़ती हुई चिड़ियों का एक जोड़ा चित्र है । कुछ क्षण चित्र का निरीक्षण करने के अनंतर वह सोच में डूबा हुआ अपने स्थान पर जा बैठता है ।)

राम—भगवान् की सृष्टि में देहधारी को भी खूब दर्जा मिला है !

इन ऊँचे-ऊँचे वृक्षों, भीमकाय पर्वतों और श्यामल मेघों को ये दो नन्हीं चिड़ियाँ मानो परास्त करके मुसकरा रही हों!

(इतने में नंदलाल कमरे में धीरे-धीरे प्रवेश करता है। उसके चेहरे पर घबराहट और चिन्ता की छाप स्पष्ट है। वह आधा क्षण खड़ा रहता है, फिर पास ही पड़ी एक कुर्सी पर धम् से बैठ जाता है।)

राम—(उत्सुकता तथा सहानुभूति-सूचक स्वर में) क्या हुआ?

नंद—शायद वही, जो तुम समझते चले आ रहे हो।

राम—अर्थात्?

नंद—वह लड़की आज सुबह से लापता है।

राम—(आश्चर्य से) लापता है?

नंद—हाँ, उन्होंने इर्द-गिर्द का सारा जंगल छान डाला है, पर कुछ पता नहीं चला। बस्ती से दूर पहाड़ी प्रदेश में स्कूल बनाना कितना दोषपूर्ण है, यह आज मालूम हुआ।

राम—भागनेवाले को बस्ती का स्कूल भी कहाँ बाँध सकता है?

नंद—किन्तु वह भागी क्यों?

राम—स्कूल की क़ैद से तंग आकर, पहाड़ों के आकर्षण से आकर्षित होकर, अनेक जन्मों से नस-नस में समाए हुए प्रकृति-प्रेमसे प्रेरित होकर वह फिर अपने लिए कोई वैसा ही कोना ढूँढ़ने गई है, जैसे कोने से तुम उसे खींच लाए हो।

नंद—(किंचित् निराश स्वर में) यह कैसे हो सकता है! इस ऐश्वर्य को छोड़कर भूख और दरिद्रता की गोद में कौन जाना चाहेगा?

राम—(व्यंग से मुस्कराकर) मानव-मस्तिष्क एक अति विषम कल है, जिसे कभी-कभी बड़े-से-बड़े मनोविज्ञान-वेत्ता भी नहीं समझ पाते।

नंद—(खीजकर) तुम तो समझते हो।

राम—(विजय के स्वर में) समझने का प्रयत्न अवश्य करता हूँ।

[इतने में रत्नी हाँफती हुई तेज़ी से कमरे में प्रवेश करती है। वह सफ़ेद रंग का फ्रॉक और उसके ऊपर गहरे नीले रंग की एक वास्कट पहने है।

पाँवों में काले रंग का जूता है, जो कीचड़ से सना है। फ्रॉक और वास्कट दो-एक स्थानों से फटी-सी है, मानो काँटों में उलझ गई हो। नंगे सिर के बाल अस्त-व्यस्त हैं। वह झटपट सामने वाली कुर्सी पर बैठ जाती है। एक बार रामदयाल तथा नंदलाल की ओर देखती है, फिर खिलखिलाकर हँसती है।]

रत्ती—वे समझते होंगे, मुझे पकड़ लेंगे। अब आयँ इधर। बाहर का दरवाजा ही बन्द कर आई हूँ।

नंद—तुम तो सुबह से भागी हुई हो।

रत्ती—हाँ, भागती न, तो और क्या करती? वे चाहते थे कि मैं 'ए' और 'बी' ही पढ़ती रहूँ, लिखती रहूँ, दिन-रात सोते-जागते, खाते-पीते वही 'ए' 'बी'! न, मुझसे यह न हो सकेगा। (एक चतुर मुसकान चेहरे पर आती है) इस लिए मैं आज सुबह ही भाग उठी। बड़ी मिस ने कई लोगों को मुझे ढूँढ़ने के लिए भेजा, किन्तु मैं भी ऐसी-ऐसी झाड़ियों में छिपने लगी कि उनके काबू न आई।

राम—सो तो स्पष्ट है।

नंद—इतनी दूरसे यहाँ कैसे पहुँची हो?

रत्ती—(घृणा से) दूर! दस कोस का अन्तर नहीं और तुम उसे दूर बता रहे हो! यदि कहीं मुझे बड़ी मिस के चपरासियों का डर न होता, तो मैं बहुत पहले यहाँ पहुँच गई होती।

नंद—(सहानुभूति से) तुमने सुबह से कुछ खाया तो न होगा?

रत्ती—खाया क्यों नहीं! रास्ते में जंगल के वृक्ष फलों से भरे पड़े थे। उन फलों को खाती चली आ रही हूँ।

नंद—फिर भी भूख तो लगी होगी? (उठकर साथ की दीवार में लगे बटनको दबाता है। कुछ ही देर बाद नौकर प्रवेश करता है। नौकर से) देखो, जो भी कुछ अभी खाने के लिए तैयार हो, मिस को दो। (रत्ती से) जाओ, खा-पी आओ, फिर बातें करेंगे। (आगे-आगे रत्ती और पीछे-पीछे नौकर कमरे से बाहर चले जाते हैं।)

राम—(छिपे हुए व्यंगसे) अब कहो।

नंद—(चोट करते हुए) जितने मनोविज्ञान के पंडित तुम बनते हो, उतने तुम नहीं हो, यह स्पष्ट है।

राम—सो कैसे ?

नंद—और जितना मानव-मस्तिष्क को विषम तुम समझते हो, उतना विषम भी वह नहीं, यह और स्पष्ट है।

राम—क्यों ?

नंद—इन पहाड़ों, घाटियों तथा प्रकृति-प्रकृति को छोड़कर यह तीर की भाँति सीधी ऐश्वर्यकी गोदी में आई है कि नहीं। मैं इसे सुसंस्कृत कर लूँगा, यह अब निर्विवाद है।

राम—अच्छा ! अब उसे किसी और स्कूल में भेजोगे ?

नंद—नहीं, तुम्हारे-ऐसे मनोवैज्ञानिकों की सहायता से कुछ दिन यहीं उसकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करूँगा और उसके अनन्तर जिस स्कूल में तुम कहोगे, भेज दूँगा।

राम—लड़की के मिल जाने की खुशी में तुम आवश्यकता से अधिक आशावादी हो रहे हो।

नंद—इस का उत्तर भविष्य देगा। चलो देखें, नौकर ने उस बेचारी को कुछ खाने को भी दिया है या नहीं।

राम—चलो।

[दोनों साथ-साथ कमरे से बाहर हो जाते हैं। पर्दा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

(*समय*—प्रातःकाल। *स्थान*—नंदलाल की कोठी का बरामदा। वह एक आराम-कुर्सी पर अधलेटा-सा पड़ा है। बरामदे की दीवार के साथ एक तिपाई पड़ी है, जिसपर दीवार के सहारे सुनहरे फ्रेम में जड़ी रत्ती की काफ़ी बड़ी एक फोटो रखी है, जो दर्शकों को साफ़ दीख रही है। उसकी अवस्था तब कोई उन्नीस वर्ष के लगभग होगी। उसके बाल अधकटे हैं, चेहरा पेंट किया हुआ है, मस्तक पर बिंदी है, कानों में बड़े-बड़े झुमके हैं, नेत्रों में चमक है, ओठोंपर अभिमान-भरी मुस्कान है और अंग-अंग से दंभ

टपकता है। नंदलाल उस चित्र की ओर ध्यानपूर्वक देखता है, फिर मुस्कराता है।]

नंद—अब कौन कह सकता है कि आजसे छः-सात वर्ष पहले यह एक अपढ़ पहाड़ी लड़की थी। आज कौन-सा सभ्य समाज इसे पाकर धन्य न होगा। शिक्षा-दीक्षा का जादू भी मनुष्य को कहाँ-से-कहाँ ले उड़ता है। रामदयाल इसे देखकर दंग रह जायगा। अब आता ही होगा।

(कलाई पर बँधी घड़ी की ओर देखता है। इतने में रामदयाल प्रवेश करता है; घुसते ही उसकी दृष्टि चित्र पर पड़ती है। वह गौरसे उसकी ओर देखता है और बिना कुछ कहे पास पड़ी कुर्सी पर बैठ जाता है।)

नंद—(जरा अभिमान से) देखो रत्ती को ?

राम—हाँ।

नंद—अब कहो, सभ्य समाज के शृंगार में परिणत हो गई है कि नहीं ?

राम—शृंगार इसे निस्संदेह कहा जा सकता है, पर इससे अधिक भी कुछ बन पाई है या नहीं, यह कौन कह सकता है ?

नंद—अगले सप्ताह वह यहाँ आ रही है, तब कह लेना।

राम—हाँ, निश्चित रूपेण तो तभी कहा जा सकता है, किन्तु इस की चित्रित भाव-भंगी तो यही प्रदर्शित करती है कि तुमने इसे न इधर का छोड़ा है, न उधर का।

नंद—(आश्चर्य से खीझकर) सो कैसे ?

राम—इस के मुख पर अंकित अभिमान तथा दम्भ क्या तुम्हें नहीं दीख रहे ?

नंद—सौंदर्य का अभिमान किसे नहीं होता ?

राम—(गंभीर स्वर में) होता है, किन्तु सभ्यता लिए हुए इतना असम्य अभिमान रत्ती-जैसी लड़कियों में ही हो सकता है।

नंद—(व्यंगसे) अच्छा !

राम—हाँ, क्योंकि इन का बाह्य-विकास तो आधुनिक प्रसाधनों द्वारा

हो जाता है, किन्तु आन्तरिक और मानसिक विकास पाँच-छः वर्षोंमें कैसे हो सकता है ? अंगरेजी की दस-बीस पुस्तकें यदि यह जादू कर सकती, तो आज मानवता का स्तर इतना नीचा न होता !

नंद—मैंने स्त्री को आदर्शों से ओतप्रोत देवी बनाने का तो कभी दावा नहीं किया था।

राम—खैर, जो-कुछ वह बन पाई है, वह तो अगले सप्ताह तक दीख ही जायगा। (शरारत से) एक बात पूछूँ ?

नंद—क्या ?

राम—यदि इस लड़की के घरवाले इसे लेने के लिए अब आ जायँ, तब क्या हो ?

नंद—आ जायँ ! कहाँ से ? इस का है ही कौन ?

राम—इस की मामी तो थी ही। शायद किसी के साथ इसकी सगाई भी हुई हो।

नंद—सगाई ? होती, तो वह बता न देती ?

राम—वह कैसे बता सकती थी ? इतनी नन्ही-सी बालिका को इन बातों की क्या समझ हो सकती है ?

नंद—खैर, जब कोई आयगा, तो देखा जायगा। उससे भी निपट लेंगे।

राम—भला किस तरह ? कानूनी दृष्टि से तुम्हारा इस पर क्या अधिकार है ?

नंद—वह अठारहवाँ वर्ष पार कर चुकी है, इस लिए किसी और का इस पर क्या अधिकार हो सकता है ?

राम—(किंचित् निराश होकर) यह तो ठीक है, किन्तु थोड़ा झगड़ा तो वे लोग खड़ा कर ही सकते हैं।

नंद—इनके झगड़े से कौन डरता है ?

राम—(जेब से सिगरेट-केस निकालकर उसे खोलता है और नंदलाल की ओर बढ़ाता है। फिर एक सिगरेट स्वयं ले लेता है। सिगरेट-लाइटर से

पहले नंदलाल का और फिर अपना सिगरेट सुलगाता है) अब उस लड़की का क्या करोगे ?

नंद—क्या करूँगा ? (सोच में पड़ जाता है) वही करूँगा, जो अन्य लोग अपनी लड़कियों का करते हैं।

राम—अर्थात् विवाह ?

नंद—हाँ।

राम—कहाँ, और यदि वह न माने, तब ?

नंद—क्या उसके लिए मैं कोई वर न ठीक कर सकूँगा ? और वह मानेगी क्यों नहीं ?

राम—उसकी इच्छानुसार शायद न हो, और अंगरेजी का अर्ध-ज्ञान प्राप्त की हुई लड़की यदि विवाह से इन्कार करे, तो आश्चर्य ही क्या होगा !

नंद—(थोड़ी देर कुछ जवाब नहीं देता, ग़ौर से चित्र की ओर देखता है) तुम्हारा व्यवहार आज अद्भुत हो रहा है और वह क्यों, मैं जानता हूँ।

राम—(चौंककर) क्यों ?

नंद—इस लिए कि जिसे तुम असम्भव समझते थे, वह मैंने संभव कर दिया है।

राम—(संदिग्ध स्वर में)तुमने संभव कर दिया है ?

नंद—निस्संदेह। इस लिए क्षुद्रता तजकर उदारता को अपनाओ। हम दोनों में से दोनों ही तो ठीक नहीं हो सकते थे।

राम—(खिलखिलाकर हँसते हुए)तो तुम समझते हो, मैं जान-बूझकर अनुदार हो रहा हूँ ! जो-कुछ तुमने कर दिया है, उस में तो मुझे कभी भी संदेह न था। इसके बाद क्या होगा, मेरी चिन्ता तो यही है और थी। तुमने एक समस्या-नारी गढ़ ली है। यदि उसकी समस्या को तुम ठीक ढंग से सुलझा लो, तो मेरी दृष्टि में तुम-सा बड़ा कोई न होगा।

नंद—ठीक ढंग का निश्चय कौन करेगा ?

राम—तुम।

नंद—(आश्चर्य से) मैं ?

राम—हाँ, यदि तुमको अपने सुलझाव पर संतोष हो जाय, तो मुझे एक शब्द भी न कहना होगा। तुम्हारे परीक्षण को मैं पूरी तरह सफल मानूँगा।

नंद—धन्यवाद। (सहसा कुर्सी से उठ खड़ा होता है और बरामदे में टहलने लगता है। फिर कुछ देर टहलने के अनंतर पुनः अपनी कुर्सी पर बैठ जाता है। गंभीर स्वर में) तुम्हारा आशय क्या है, मैं कुछ-कुछ समझा हूँ; पर भली भाँति उसे जान नहीं पाया, यह न छिपाऊँगा।

राम—(मुस्कराकर) मेरा आशय क्या है, मेरे निकट भी वह पूर्णतया स्पष्ट नहीं। भविष्य का केवल एक धुँधला-सा चित्र मुझे दिख रहा है। उसकी रूप-रेखाएँ साफ़ तो घटनाएँ घटित होने पर ही होंगी। (एकाएक उठ खड़ा होता है) लो, अब अनुमति दो।

नंद—इतनी जल्दी ! खाना खाकर जाना।

राम—इस के लिए रुक न सकूँगा। मुझे एक जगह अभी पहुँचना है।

[रामदयाल हाथ जोड़कर नमस्कार करता है और नंदलाल भी उसे प्रतिनमस्कार करता है। फिर जिस राह से वह आया है, उसी राह से द्रुत-गति से लौट जाता है। नंदलाल भी मुँह मोड़कर धीरे-धीरे कोठी के अन्दर आने लगता है। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

[*समय*—बाद दोपहर। *स्थान*—नंदलाल की कोठरी के साथ सटा हुआ लॉन। लॉन में तीन-चार आराम-कुर्सियाँ रखी हुई हैं। एक पर नंदलाल बैठा है और दूसरी पर रामदयाल। लॉन के एक कोने में नरगिस के फूलों का एक समूह खिल रहा है। उनकी मीठी महक वातावरण में फैल रही है। सूर्य की किरणें उनके साथ खेल रही हैं।]

राम—तुम्हारे नरगिस तो इस बार खूब फूले हैं !

नंद—हाँ, किन्तु बाकी के फूलों को न-जाने क्या हो गया। देखो, क्यारियों-की-क्यारियाँ यूँ ही पड़ी हैं।

राम—माली ने ठीक तरह से परिश्रम नहीं किया होगा!

नंद—यह बात तो नहीं, क्योंकि माली वही पुराना है, जिसे तुम फूलों का जादूगर कहा करते हो।

राम—तब तो कोई प्राकृतिक दुर्भाग्य ही उसका कारण हो सकता है।

नंद—हाँ, माली इधर ही आ रहा है, उससे पूछते हैं।

[नंदलाल के सामने वाले कोने से माली प्रवेश करता है। घुटनों तक मोटी धोती और आधी आस्तीन की एक मैली बंडी पहने है, सिर पर एक गमछा रखे है और बाएँ हाथ में खुरपा है। वह झुककर दोनों को नमस्कार करता है।]

माली—(नंदलाल से) साहब, एक आदमी आपसे मिलना चाहता है। गँवार-सा पहाड़ी है।

नंद—काम क्या है, तुमने उससे पूछा है?

माली—हाँ, साहब! कहता है, वह आपसे ही दो बातें करना चाहता है।

नंद—दो बातें?

माली—हाँ। ज़रा घबराया-सा दीखता है।

राम—(नंदलाल से) उसे बुला ही क्यों नहीं लेते।

नंद—(माली से) जाओ, उसे इधर भेज दो।

[माली प्रणाम करके चला जाता है। इतने में अधफटा चुस्त मैला-कुचैला पायजामा, मैला-सा कुरता तथा तेल और मैल से लथपथ टोपी पहने एक पहाड़ी युवक प्रवेश करता है। अपने बड़े-बड़े पीले दाँत प्रदर्शित करते हुए उन दोनों को हाथ जोड़ कर नमस्कार करता है। उसके हाथों, बल्कि सारे शरीर से तंबाकू की तीव्र गन्ध आ रही है। नाक पर एक फुंसी है, जिस पर गहरे काले रंग की चिकनी-सी दवाई पुती हुई है। नंदलाल उसे बैठने का संकेत करता है। वह उसके निकट ही घास पर बैठ जाता है।]

नंद—क्या बात है ?

पहाड़ी—(जरा घबराकर) आप ही इस कोठी के साहब हैं ?

नंद—हाँ, कहो।

पहाड़ी—मैं...(रुकता है) मेरा मतलब है...[फिर रुकता है]

नंद—(प्रोत्साहन देते हुए) कहो, कहते क्यों नहीं ?

पहाड़ी—(एकाएक जोश में आकर) आप बड़े आदमी होंगे, तो अपने घर होंगे, किन्तु...[फिर रुक जाता है। नंदलाल का चेहरा क्रोधसे तमतमा उठता है, पर रामदयाल हँसने लगता है।]

राम—(कोमल स्वर में) साफ़-साफ़ बात करो।

पहाड़ी—(साहस करके) साहब, इन साहब के पास मेरी मँगेतर है।

[रामदयाल नंदलाल की ओर अद्भुत अभिमानभरी मुद्रा करके देखता है, जिसका आशय यह है कि जो-कुछ मैंने कहा था, देखलो, वह कैसे ठीक हुआ ! नंदलाल किन्तु उसकी ओर ध्यान नहीं देता। उसका सारा ध्यान पहाड़ी युवक की ओर है।]

नंद—मेरे पास तुम्हारी मँगेतर है ? कब से है ?

पहाड़ी—पिछले छः-सात साल से।

नंद—तो उसकी सुध लेने आज आए हो ?

पहाड़ी—(जरा तीखे स्वर में) पता लगने पर ही आ सकता था पहले कैसे आ जाता ?

नंद—अब तुम्हें किसने बताया ?

[पहाड़ी की दृष्टि सहसा रामदयाल पर जा पड़ती है, किन्तु पलक मारते ही वह आँखें फेर लेता है। नंदलाल को किन्तु उसकी यह भावना-भंगी दीख जाती है। वह मुस्कराता है और उसके मुख पर जो चिन्ता का एक परदा पड़ा हुआ था, वह उठ जाता है। उसका स्थान कुतूहल ले लेता है और उसके नेत्रों में शरारत की एक चमक आ जाती है।]

नंद—कहो, किसने बताया है ?

पहाड़ी—किसी ने बताया हो, मैं उसे लेने आया हूँ।

(इतने में तेजी से एक नौकर प्रवेश करता है।)

नौकर—साहब, मिस साहबा आ गईं।

नंद— (आश्चर्य से) आ गईं ? कहाँ हैं ?

['यहां हूं' कहती हुई ठक-ठक करती रत्ती प्रवेश करती है। सूरत-शक्ल तीसरे दृश्य वाले चित्र- जैसी ही है। हाँ, चेहरेपर पेंट अधिक चमक रहा है। होठों पर अधिक लाली है, नाखूनों पर क्यूटेक्स की कृपा हाल ही में हुई मालूम देती है। अधकटे बालों पर स्थायी लहरें बने भी एक-दो दिन ही हुए हैं, यह स्पष्ट है। पाँव का ऊँची एड़ी का जूता भी नया है। हाथ में लाल सिल्क की छतरी है। नंदलाल उसे नख से शिख तक देखता है और प्रशंसात्मक मुस्कान उसके मुख पर खेल उठती है और उसके होंठों पर व्यंग की एक रेखा खिच जाती है। पहाड़ी उसे देखकर चकाचौंध रह जाता है और अनायास बैठे-बैठे ही थोड़ा पीछे हट जाता है।]

रत्ती—(एक कुर्सी पर बैठते हुए नंदलाल से) हैलो अंकल ! (फिर रामदयाल से) ऐंड यू अंकल ! (फिर उसकी दृष्टि पहाड़ी युवक की ओर जाती है, उस के चेहरे पर बल पड़ जाते हैं और वह नाक-भौं सिकोड़ने लगती है) मैं यहाँ न बैठ सकूँगी। ही स्टिंक्स ! (उठ खड़ी होती है। एक बार फिर नाक सिकोड़ती है और जिधर से आई है, तेजी से उधर ही लौट जाती है।)

पहाड़ी—(सहमकर) मेम साहब क्या कहती थी ? (रामदयाल कुछ कहने के लिए मुँह खोलने ही जा रहा था कि नंदलाल सहसा पूछने लगता है।)

नंद— तुम मेम साहब को जानते हो ?

पहाड़ी—नहीं साहब, मैंने तो इन्हें कभी देखा भी नहीं।

नंद—(मुस्कराकर रामदयालकी ओर देखता है) तो अपनी मँगेतरको कहीं दूसरी जगह ढूँढ़ो। उन साहब को तुम जानते हो। (रामदयाल की ओर संकेत करता है)

पहाड़ी—हाँ ! (घबराकर) नहीं, मैं इन्हें क्या जानूँ ?

नंद—(जेब से एक पाँच रुपये का नोट निकालते हुए) यह लो। आशा

तो तुमको किसी ने अधिक की दिखलाई होगी, पर चूँकि तुम लोगों की योजना सफल नहीं हुई, इसलिए तुम्हें इसी से सन्तोष करना होगा।

[पहाड़ी उठकर नोट को हाथ में पकड़ लेता है। एक बार वक्रदृष्टि से रामदयाल की ओर देखता है और धीरे-धीरे बाहर चला जाता है। रामदयाल ज्यों-का-त्यों बैठा रहता है।]

नंद—अब कहो ?

राम—कहने के लिए क्या रह गया है। और क्या यह स्पष्ट नहीं हो गयाकि जिधर से यह आई थी, उधर की अब नहीं रही।

नंद—अब समझा हूँ। तो यही प्रदर्शित करने के लिए तुमने यह खेल रचा था ?

राम—विचार तो यही था। (मुसकराकर) चलो, अब उसको किसी और दृष्टिकोण से देखें।

नंद—(कदाचित् बुझे हुए स्वर में) चलो

(दोनों उठकर लॉन से बाहर की ओर जाने लगते हैं। परदा गिरता है)

पाँचवाँ दृश्य

[*समय*—बाद दोपहर। *स्थान*—नंदलाल के सोने का कमरा हरे रंग की बिजली से प्रकाशित है। कमरे के मध्य में नंदलाल का पलंग है। तकियों के सहारे वह उसपर अधलेटा-सा पड़ा है। एक रेशमी रजाई से वह आधे से अधिक ढंका है। उस का मुख दर्शकों की ओर है। चारपाई के पास ही पड़ी केनवस की आरामकुर्सी पर रत्ती पूर्णरूपेण सजी-धजी बैठी एक चित्रमय पत्रिका में निमग्न है। इतने में नंदलाल जरा जोर से खाँसता है। रत्ती पत्रिका से ध्यान हटा कर उसकी ओर देखती है।]

रत्ती—फिर खाँसी शुरू हो गई ?

नंद—हां, मेरी गोलियाँ और गरम पानी लाओ।

रत्ती—बहुत अच्छा।

[उठ कर बाहर चली जाती है। इस बीच में थोड़ा-थोड़ा अन्तर देकर नंदलाल खाँसता है और द्वार की ओर किंचित् धैर्य खोकर देखता रहता है।

कुछ प्रतीक्षा के अनंतर रत्ती साथ में पानी-भरा शीशे का एक गिलास तथा सफेद गोलियों से भरी एक शीशी लेकर प्रवेश करती है। पलंगके पास रखी हुई एक तिपाई पर पानी रखकर वह शीशी में से दो गोलियाँ निकालती है। गोलियाँ नंदलालको पकड़ाकर पानी का गिलास भी उन के हाथ में दे देती है। वह झटपट गोलियाँ गले में फेंककर उन्हें पानी की घूँटों द्वारा गले से नीचे उतार लेता है। गिलास तिपाई पर रख कर वह एक अँगड़ाई लेती है और अपनी कुर्सी पर इस भाँति जा बैठती है, मानो मीलों का चक्कर काट कर आई हो।]

नंद—(जिसकी खाँसी थोड़ी कम हो जाती है।) यह खाँसी मुझे एक दिन ले बैठेगी।

रत्ती—(अलसाए स्वर में) कुछ बढ़ ही गई है।

नंद—कुछ! मुझे तो लगता है, यह कभी ठीक नहीं होगी। (थोड़ा रुककर) मुझे तो अन्त निकट दीख रहा है।

रत्ती—(थोड़ा-सा घबराकर) ऐसे न कहो।

नंद—कहने से तो क्या होता है, पर बचना संभव नहीं लगता।

रत्ती—यदि कहीं ऐसा हो जाय, तो मेरा क्या होगा?

नंद—(मुसकरा कर) तुम्हारा? तुम चिन्ता न करो। तुम्हारे लिए मैंने बैंक में पचास हज़ार रुपया जमा करवा रखा है। तुम्हारे भविष्य की चिन्ता वह दूर कर देगा।

रत्ती—(चेहरा खिल उठता है) सचमुच?

नंद—बिलकुल। मेरी मेज़ की दराज में एक बन्द लिफ़ाफ़ा पड़ा है। उस पर तुम्हारा नाम लिखा है। उस में तुम्हारे नाम का पचास हज़ार का चेक है।

[रत्ती प्रसन्नता से उछलती हुई उठ खड़ी होती है। भाग कर कमरे से बाहर चली जाती है और एक ही क्षण में लिफ़ाफ़ा खोलती हुई पुनः कमरे में लौट आती है। लिफ़ाफ़े से निकाल कर चेक को आनन्दमग्न होकर देखती है और उसे गले के नीचे अपने ब्लाउज में रख लेती है। फिर हर्षातिरेक से पुलकित हुई आगे बढ़कर नंदलाल के सिर के बालों से खेलने लगती है।]

रत्ती—तुम कितने अच्छे हो ! मेरे लिए तुमने क्या-क्या नहीं किया !

नंद—यह तो मुझे करना ही था। (फिर खाँसता है)

रत्ती—(नंदलाल की खाँसी शान्त होने पर) एक बात कहूँ ?

नंद—कहो।

रत्ती—यदि तुम अस्पताल में दाखिल हो जाओ, तो कैसा रहे ?

नंद—अस्पताल में ? (कुछ देर रत्ती के मुख की ओर देखकर) क्या यहाँ मैं भार-रूप हो रहा हूँ ?

रत्ती—भार-रूप की बात मैं नहीं कहती, पर वहाँ तुम्हारी देख-भाल अच्छी तरह हो सकेगी। मैं कोई ट्रेन्ड नर्स थोड़े ही हूँ।

नंद—(जरा खीझ कर) और लोगों की लड़कियाँ ट्रेन्ड नर्सें होती हैं क्या ?

रत्ती—[अभिमान-भरे स्वर में] बाकी लड़कियों का मेरे साथ क्या मुकाबला ? मैं पचास हजार की स्वामिनी जो हूँ !

[नंदलाल कुछ जवाब नहीं देता। गहरे सोच में डूब जाता है और आँखें मूँद लेता है। रत्ती आधा क्षण उसकी ओर देखती है, फिर दबे-पाँव बाहर चली जाती है। इसके थोड़ी देर बाद रामदयाल प्रवेश करता है। रामदयाल की आहट पाकर नंदलाल नेत्र खोलता है।]

राम—कहो, अब कैसे हो ?

नंद—कुछ देर पहले तो जीने की आशा छोड़ चुका था, पर अब तो अच्छा होना ही होगा।

राम—[आश्चर्य से] क्या मतलब ?

नंद—क्योंकि अस्पताल से मुझे घृणा है और लाड़ली गोद ली हुई बेटी मुझे वहाँ पहुँचाने की ठान चुकी है !

राम—क्यों ?

नंद—इसलिए कि मुझ से एक भूल हो गई है। हृदय की मनमानी से प्रेरित होकर पचास हजार रुपये का चेक उसे दे बैठा हूँ। मैं अब तुम्हारे साथ सहमत हूँ।

राम—कैसे ?

नंद—मैं मानता हूँ कि मेरा परीक्षण असफल रहा है। वह उधर की तो रह ही न सकती थी, इधर की भी नहीं रही।

राम—तब ?

नंद—और पचास हज़ार रुपया तो उसके प्रति वह अनर्थ ढा देगा, जिससे वह शायद कहीं की भी न रहे।

राम—इसलिए।

नंद—वह चेक मुझे कैंसिल करना पड़ेगा। जरा टेलीफोन इस कमरे में उठा लाना।

[रामदयाल वाहर चला जता है और साथवाले कमरे से टेलीफोन हाथ में पकड़े पुनः प्रवेश करता है। टेलीफोन की लंबी लाईन उसका पीछा कर रही है। वह देता है। एक ही मिनट में नंदलाल डायल घुमाकर अपने बैंक को हिदायत दे देता है कि रत्ती वाला चेक कैंसिल समझा जाय। वह रिसीवर स्थान पर रख ही रहा होता है कि रत्ती प्रवेश करती है, हिरन की भाँति चौकड़ियाँ भरती हुई।]

रत्ती—(रामदयाल से, खिले हुए स्वर में) हलो अंकल ! [फिर नंदलाल की ओर देख कर] अंकल, यह फोन किसको किया है ?

नंद—अपने बैंक को। तुम्हें दिया हुआ चेक कैंसिल कर दिया है। मुझे खेद है, उसका पचास हज़ार रुपया तुम अब पा न सकोगी।

रत्ती—(जिसका मुख सहसा पीला पड़ जाता है, लड़खड़ाती आवाज से) ऐसा तुमने क्यों किया ?

नंद—इसलिए कि तुम्हारे भविष्य के लिए मेरा अच्छा होना आवश्यक है, और मैंने अच्छा होने का निश्चय कर लिया है। इस अवस्था में अब तुम्हारे लिए रुपये की आवश्यकता जाती रही है।

रत्ती—[निराशा से ओतप्रोत स्वर में] किंतु मुझे....

नंद—(रत्ती को बीच में ही रोक कर) आधुनिक शिक्षा तथा रूप का भार ही तुमसे न सँभलता था, उस पर धन का भार और लाद देना

मेरी कितनी बड़ी भूल थी, यह आँख पलकते ही तुमने सुझा दिया, इसके लिए कृतज्ञ हूँ।

रत्ती—(आश्चर्य से) मैंने ?

नंद—(व्यंग से) हाँ, तुमने। तुम इतनी गुणवती हो, मैं न जानता था।

[नंदलाल आँखें मूँद लेता है। रत्ती का पीला चेहरा क्रोध से तमतमा उठता है। वह घृणायुक्त मुद्रा से नंदलाल की ओर देखती है। उसके होंठ कुछ कहने के लिए हिलते हैं, फिर भी उसकी दृष्टि रामदयाल की ओर है, जो पत्थर की भाँति निश्चल बैठा है और उसके नेत्र रत्ती के मुखपर गड़े हैं। रत्ती बिना कुछ कहे एक बार अपने सिर को झटकाती है और द्रुतगति से बाहर चली जाती है। परदा गिरता है।]

पुनः संगठन

(श्री वैकुण्ठनाथ 'दुग्गल')

पात्र-परिचय

शाहूजी—महाराष्ट्र के शासक।

बालाजी विश्वनाथ—पेशवा।

कान्होजी आंग्रे—मराठा जंगी बेड़े का सरखेल।
(पहले एक सामुद्रिक लुटेरा)

चन्द्रसेन जाधव—शाहूजी का सेनापति।

रम्भाजी निम्बाल्कर—एक बहादुर सैनिक।

हरिभाऊजी—पेशवा का मित्र।

निज़ामुलमुल्क—हैदराबाद का शासक।

रत्ना—एक सैलानी चित्रकारिणी।

पहला दृश्य

समय—सन्ध्या

(सतारा की राजवाटिका में महाराज शाहूजी और चन्द्रसेन जाधव। शाहूजी अम्बर में रवि के कोने छूती हुई एक बदली को ध्यान से देख रहे हैं। कुछ चिन्तित-से। जाधव वीर के कर्णकुण्डल केशों में से झाँक रहे हैं। भाल पर तेज़। मुख पर हर्ष।)

चन्द्रसेन—एकाएक क्या देखने लगे महाराज? किस धुन में खो गए?

शाहूजी—(ऊपर देखते हुए) आकाश।

चन्द्रसेन—आकाश? बहुत सुन्दर है महाराज! सूरज का सोने का थाल, बादलों की सिंदूरी टुकड़ियाँ, कितनी अनुपम.......

शाहूजी—नहीं सेनापति ।

चन्द्रसेन—राष्ट्रपति किस सोच में हैं ?

शाहूजी—चन्द्रसेन !

चन्द्रसेन—हाँ महाराज !

शाहूजी—सूर्य्य अङ्गारे-सा धधक रहा है। उसे देखकर बादलों के चेहरे पर शर्म की सुर्खी दौड़ गई है। लेकिन......

चन्द्रसेन—लेकिन क्या ? कहिए। आज आप इतने अधीर क्यों हैं ?

शाहूजी—अगर इस लाल सूर्य्य के चेहरे पर काली घटा घिर जाय......

चन्द्रसेन—तो वह लाल हो उठेगी महाराज !

शाहूजी—नहीं, वह काला पड़ जायगा, सेनापति !

चन्द्रसेन—आपका मतलब ?

शाहूजी—महाराष्ट्र का सूर्य अस्ताचल को जा रहा है। क्षितिज से एक अन्धड़-सा उठ रहा है। महारात्रि का सामान जुट रहा है सेनापति ! नियति बहुत भयङ्कर नाटक खेलने वाली है।

चन्द्रसेन—यह आप क्या कह रहे हैं महाराज ! राष्ट्र की रक्षा के लिए मरना हम भूल नहीं गए। हमें जूझना आता है राष्ट्रपति ! इन छातियों में बरछों से भिड़ने की हिम्मत अभी है।

शाहूजी—तुम वीर हो चन्द्रसेन !

(बालाजी विश्वनाथ का प्रवेश)

बालाजी—(शाहूजी को अभिवादन करके) तुम वीर हो चन्द्रसेन !

चन्द्रसेन—मुझे पेशवा से इन प्रोत्साहन के शब्दों की जरूरत न थी। मैं जो कुछ कहूँ, मैं वह जानता हूँ।

शाहूजी—सेनापति !

चन्द्रसेन—महाराज !

शाहूजी—यह मैं क्या सुन रहा हूँ ?

चन्द्रसेन—मैं अपने शब्दों को दोहराने की जरूरत अनुभव नहीं करता।

शाहूजी—तुम्हें पेशवा के प्रति सभ्याचरण सीखना होगा। भूलो मत, तुम केवल एक सेनापति हो।

चन्द्रसेन—यही तो मैं कभी भूल नहीं सकता। यही तो एक टीस है। मैं केवल एक सेनापति हूँ और बालाजी पेशवा हैं।

शाहूजी—इस द्वेष के लिए राष्ट्र में कोई स्थान नहीं है।

चन्द्रसेन—(तलवार पर हाथ रखकर) अंतिम नमस्कार (प्रस्थान करने लगता है) मैं अपने लिए उपयुक्त स्थान ढूँढ़ निकालूँगा।

बालाजी—सेनापति एक बात सुनते जाओ।

चन्द्रसेन—मझे अवकाश नहीं। बातें अब युद्धस्थल में होंगी। (जाता है।)

बालाजी—यह अच्छा नहीं हुआ महाराज!

शाहूजी—सब अच्छा हो रहा है पेशवा! ऐसा ही हुआ करता है।

बालाजी—शिवाजी ने अपनी रक्त-बूँदों से राष्ट्र की नीवों को दृढ़ किया था। कौन जानता था कभी ऐसा अनाचार भी होगा!

शाहूजी—बहुत भयानक विस्फोट होगा पेशवा। सन्ध्या अपने खून से ही सूर्य को बल देती है किन्तु वह कितनी देर टिक पाता है?

बालाजी— लेकिन अब क्या करना चाहिए?

शाहूजी—पेशवा!

बालाजी—महाराज!

शाहूजी—सेनापति की चिन्ता न करो। वह अपने ही मन की ज्वाला से जल रहा होगा। उसने तुम्हारा अपमान किया है। यह क्या उसे दग्ध करने के लिए काफी नहीं?

बालाजी—महाराज! आप भूलते हैं। राष्ट्र के लिए यदि वह घातक न हो तो मुझे व्यक्तिगत अपमान की चिन्ता नहीं।

शाहूजी—तुम कितने उदार हो पेशवा!

बालाजी—इस समय सारे राष्ट्र में मुझे एक विद्रोही अत्यन्त भयानक दीखता है। और वह है कान्होजी आंग्रे।

शाहूजी—वह वीर है।

बालाजी—लेकिन क्रान्तिकारी है, राष्ट्र विरोधी है। आपकी सत्ता को मानने से इन्कार करता है। उसके हाथ से कोई जहाज नहीं बचता! वह डाकू है।

शाहूजी—वह सब कुछ है पेशवा! लेकिन समुद्र के युद्ध में विजय असम्भव है।

बालाजी—कुछ भी असम्भव नहीं महाराज! जिस दिन आंग्रे का सिर राष्ट्र की सेवा में झुक जायेगा उस दिन सब चिन्ताएँ दूर हो जाएँगी। हमारी फूट के कारण निजामुल्मुल्क भी शेर हुआ जा रहा है। मैंने रम्भाजी को उसका सेवक बनने के लिए भेजा है।

(एक गुप्तचर का प्रवेश)

गुप्तचर—(अभिवादन करके) महाराज! मान प्रदेश में कृष्णराव खटावकर ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी है। मनमानी चौथ वसूल करके प्रजा को तङ्ग किया जा रहा है। प्रजा पीड़ित है महाराज!

शाहूजी—तुम जाओ गुप्तचर! प्रजा को आश्वासन दिलाओ। सब ठीक हो जायगा।

(गुप्तचर का प्रस्थान)

शाहूजी—पेशवा!

बालाजी—महाराज!

शाहूजी—इन काँटों को शीघ्र दूर करना होगा। अत्याचार को दबाने के लिए तुम स्वयं प्रस्थान करो। इन मेंढकों की जुबान पर टाँका लगाकर कह दो कि किसी भी ऋतु में तुम्हारा टर्राना सुहावना नहीं लगता।

बालाजी—जैसी आज्ञा (जाने लगता है।)

शाहूजी—और देखो, बहिरोपन्त पिंगले को आंग्रे के विरुद्ध विशेष सेना खण्ड देकर भेज दो।

बालाजी—बहुत अच्छा महाराज! (प्रस्थान)

शाहूजी—आंग्रे मेरी सत्ता को नहीं मानता। खटावकर स्वतन्त्र

है। सेनापति द्वेष का पुतला। देश के स्वास्थ्य को खाने वाले घिनौने कीड़े।

(पट-परिवर्तन)

दूसरा दृश्य

समय—गोधूली

(कोनकन तट पर सागर के किनारे चट्टान पर रत्ना। आयु सोलह वर्ष। लाल अंगरखे में से गले की माला के तीन-एक मनके निकल रहे हैं। एक हाथ में चित्रपटी और दूसरे में कूँची)

रत्ना—(गाती है)

तुम सिन्धु बड़े दीवाने।

जब नभ में सरल सुहानी,
आती है चन्दा रानी,
आतुर हो उछल उछलकर,
चल पड़ते उसे मनाते,
तुम सिन्धु बड़े दीवाने।

जब ऊषा तुम्हें सजाती,
नीलम पर लाल लगाती,
नव दुलहिन से मुस्काकर,
तुम लगते जरा लजाने,
तुम सिन्धु बड़े दीवाने।

कान्होजी आंग्रे का प्रवेश। दोनों बाहें छाती पर लिपटी हुई हैं। केशों के हल्के तार नन्हीं बयार से हिल रहे हैं।)

कान्होजी आंग्रे—क्या गाना गा रही थी रत्ना ?

रत्ना—नहीं तो।

का० जी आंग्रे—'तुम सिन्धु बड़े दीवाने'। ह: ! ह: ! ह: ! दीवाने दीवानों की ही चर्चा करते हैं।

रत्ना—क्या मैं दीवानी हूँ ?

का० जी आंग्रे—नहीं तो। सिन्धु दीवाना है ?

रत्ना—मैंने कब कहा ?

का० जी आंग्रे—सिन्धु दीवाना नहीं है रत्ना ! देखो उसकी छाती पर मेरा जंगी बेड़ा। वह कितना कुछ सहन कर सकता है।

रत्ना—यही तो दीवानगी है।

का० जी आंग्रे—यह सहनशीलता है। उदारता है।

रत्ना—देखो सरखेल ! अगर तुम्हारे इस समुद्र के टुकड़े पर कोई दूसरा अधिकार जमा ले ?

का० जी आंग्रे—(जोश में) मैं उसकी धज्जियाँ उड़ा दूँ।

रत्ना—तो तुममें सहनशीलता नहीं, उदारता नहीं।

का० जी आंग्रे—यह राष्ट्र का सवाल है रत्ना ! ऐसा फिर कभी न कहना।

रत्ना—आंग्रे सरदार तुम कोप के आगार हो।

का० जी आंग्रे—मुझे इसी पर तो नाज है। खैर, छोड़ो, ये शेरों की बात हैं। चिड़ियों की नहीं। (चित्र को देखते हुए) यह क्या बनाया जा रहा है।

रत्ना—सागर।

का० जी आंग्रे—और यह लाल-लाल क्या है ?

रत्ना—बादल।

का० जी आंग्रे—बादल भी कभी लाल हुए हैं।

रत्ना—क्रोध में।

का० जी आंग्रे—बादलों को क्रोध क्योंकर हुआ ?

रत्ना—एक गुस्सैल सरदार को देखकर।

का० जी आंग्रे—उसे देखकर वे पानी-पानी हो जायेंगे। (दोनों हँसते हैं) और ये महल क्या बनाए जा रही हो ?

रत्ना—शाहूजी का।

का० जी आंग्रे—रत्ना !

रत्ना—फिर गुस्सा हो आया ?

का० जी आंग्रे—शाहूजी का। औरङ्गजेब के टुकड़ों पर पला हुआ नीच। अधिकार का प्यासा गीदड़ शेर बनने चला है।

रत्ना—आंग्रे सरदार!

का० जी आंग्रे—चुप रहो रत्ना!

रत्ना—आपस की फूट अच्छी नहीं।

का० जी आंग्रे—दुनिया में सभी कुछ अच्छा नहीं होता।

रत्ना—मेल में बरकत है।

का० जी आंग्रे—बेजोड़ का मेल नहीं हुआ करता।

रत्ना—काँटे के मेल से फूल की रक्षा होती है।

का० जी आंग्रे—यह काँटे की बेवकूफी है। फूल सुरक्षित रहने के लिये नहीं होता।

रत्ना—यह राष्ट्र का सवाल है आंग्रे सरदार!

का० जी आंग्रे—वह मैं खूब समझता हूँ।

रत्ना—तुम समझने में गलती कर रहे हो।

का० जी आंग्रे—मुझे उपदेश मत दो रत्ना। छोड़ो यह चित्र (चित्र लेता है; रत्ना की चीख निकल जाती है।)

(एक दूत का प्रवेश)

दूत—(अभिवादन करके) सरखेल! महाराज शाहू ने बहिरोपन्त पिंगले को हमारे प्रदेश पर आक्रमण के लिए भेजा है। बहिरोपन्त की फौज बढ़ी चली आ रही है।!

का० जी आंग्रे—(कुछ सोचकर) दूत! तुलाजीको कहो वे अपनी खास टुकड़ी ले जाकर पिंगले का मुकाबला करें और उसे बन्दी बनाकर लावें।

दूत—जैसी आज्ञा। (जाना चाहता है)

का० जी आंग्रे—ठहरो दूत! मैं स्वयं जाऊँगा! (रत्ना की ओर देखकर एकदम प्रस्थान)

रत्ना—पाँसा पलटने वाला है। पृथ्वी के जर्रे-जर्रे से क्रान्ति की गन्ध आ रही है। शिवाजी का साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो चुका है।

आंग्रे सरदार ! तुम्हारे मेल से उसका पुनर्जीवन हो सकता है। तुम उसे संगठित कर सकते हो।

पट-परिवर्तन

तीसरा दृश्य

समय—प्रातःकाल

(विजय दुर्ग के समीप मार्ग पर तीन नागरिक)

पहला—यह फूट राष्ट्र की लुटिया डुबो देगी।

दूसरा—महाराष्ट्र की शान तो शिवाजी के साथ ही चली गई। द्वेष और ईर्ष्या की सृष्टि हो चुकी है। विरोध का ज्वालामुखी सुलग रहा है। कौन जाने कब विस्फोट हो जाये।

तीसरा—सुना है सेनापति चन्द्रसेन निजाम के सेवक हो गए हैं।

पहला—हाँ, उसे जागीर के लालच ने देश-द्रोही बना दिया।

दूसरा—कहते हैं—'बालाजी' की पदवी उनके लिये असह्य थी।

तीसरा—सेनापति का विदेशी शत्रु से मिल जाना राष्ट्र के पतन की पहली सीढ़ी है।

दूसरा—इधर कान्हो जी स्वतन्त्र बन बैठा है। जंजीरा के सिद्दी सरदारों से उसका निरन्तर युद्ध चल रहा है।

तीसरा—उसके प्रयत्न सराहनीय हैं!

पहला—किन्तु केवल विदेशियों के विरुद्ध हों तो न ?

दूसरा—महाराज शाहू की सत्ता तो उसने ताक में रख दी है। बहिरोपन्त पिंगले कान्होजी को पराजित करने के लिए गए हैं।

पहला—और बालाजी खटावकर के छक्के छुड़ाकर सतारा लौट आए हैं।

दूसरा—बालाजी वीर है, राजनीति को समझता है।

तीसरा—शाहू महाराज को उसी का तो एक मात्र सहारा है। ताराबाई के विरुद्ध यह राजनीतिज्ञ शाहूजी की सहायता न करता तो

शायद महाराष्ट्र का राजसिंहासन तारावाई के षड्यन्त्रों से दूषित रहता।

पहला—यह खूब कही आपने। आजकल तो जाने बहुत पवित्र है? ब्राह्मण के शिखा-सूत्र की वह इज्जत नहीं रही; गौ का वह मान नहीं रह गया।

[नेपथ्य में गान की ध्वनि]

तुम मिलकर निकलो हे जलकण!

तीसरा—रत्ना गा रही है।

पहला—कौन रत्ना?

दूसरा—एक भिखारिन है।

तीसरा—अरे वही जो चित्र भी बनाती है।

पहला—चित्र?

दूसरा—हाँ, जब देखो गुनगुनाती है, चित्र बनाती है और अगर उससे बात करो तो बस कान्होजी आंग्रे की चर्चा। कई लोग तो ऐसा कहने लग गये हैं कि यह कान्होजी की रखेल है।

तीसरा—राम! राम! राम! जीभ सड़ जाये कहने वालों की। निन्दा और स्तुति की तो कोई सीमा ही नहीं रही।

दूसरा—वह आ रही है।

(रत्ना का प्रवेश)

तीसरा—रत्ना! गाओ।

रत्ना—(ऊपर देखकर) हैं!

गान

तुम मिलकर निकलो हे जलकण!
हैं कहीं शिलाएँ नोकीली,
जलती है धरती रेतीली,
इकले दुस्साहस मत करना,
हो जायेगा सर्वस्व हरण,
तुम मिलकर बरसो हे जलकण!

तुम किसी नदी पर थिरक चलो,
बाधा विघ्नों को दले चलो,
फिर जूझो आग बवण्डर से,
पूजो स्वदेश के धवल चरण।

पहला—तुम बहुत अच्छा गाना गाती हो रत्ना !

रत्ना—देखो नागरिक ! बहुत भयङ्कर समाचार है !

दूसरा—क्या ?

रत्ना—बहिरोपन्त पिंगले कान्होजी की कारा में कैद बैठे हैं—बहुत भयङ्कर समाचार है । राष्ट्र खण्ड-खण्ड हुआ जा रहा है । संगठित हो जाओ । राष्ट्र को तुम्हारे पुंजीभूत बल की जरूरत है । शाहू महाराज की सहायता राष्ट्र की सहायता है ।

दूसरा—इससे कान्होजी की हार होगी । राष्ट्र की समुद्र-शक्ति पर आघात होगा ।

रत्ना—हार जाने से कान्होजी राष्ट्र की सम्पत्ति हो जायेंगे । मेल हो जायगा भोले नागरिक !

(गाती हुई जाती है "पूजो स्वदेश के धवल चरण")

पहला—देश की कितनी धुन है ? यह राष्ट्र की सच्ची पुजारिन है ।

दूसरा—बेशक । (प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

चौथा दृश्य

समय—प्रातः

(सतारा के राज-मन्दिर में दुर्गा की प्रतिमा के सामने अंजलिबद्ध शाहू महाराज)

शाहू—हे राष्ट्र की अधिष्ठात्री देवी ! स्वराज्य को पुनर्जीवन प्रदान करो । माँ ! तुम आज तक शत्रुओं से इस पुण्य भूमि की रक्षा करती आई हो माँ ! आज तुम मूक क्यों न बन गई हो ? हे प्रस्तर-

प्रतिमा ! आज तुम्हारा हृदय क्या पत्थर बन गया है ? राष्ट्र के जोड़ हिल रहे हैं। तुम उन्हें सम्बल प्रदान करो देवी !

(उठता है)

(राज-पुरोहित का प्रवेश)

राज-पुरोहित—महाराज की आँखों में अश्रु-बिन्दुओं का कारण पूछ सकता हूँ ?

शाहूजी—नहीं।

राज-पुरोहित—आपकी अधीरता राष्ट्र के हर व्यक्ति के मुँह पर छप जायेगी।

शाहू—मैं अधीर नहीं हूँ पुरोहित।

राज-पुरोहित—सुना है—बालाजी कृष्णराव को परास्त करके आ गए हैं।

शाहू—जानता हूँ। लेकिन पिंगले का कुछ समाचार सुना ?

राज-पुरोहित—अभी कुछ नहीं।

शाहू—बाहर शोर किस बात का है ?

राज-पुरोहित—तूफान चल रहा है। वर्षा हो रही है।

शाहू—ओह ! मुझे कुछ देर यहीं ठहरना होगा ! मैं कुछ क्षण अकेले रहना चाहता हूँ।......देखो पुरोहित ! चन्द्रसेन आजकल कहाँ हैं ?

राज-पुरोहित—कितने दिनों से कुछ नहीं सुना। लोग कहते हैं—निजामुल्मुल्क से जा मिला है।

शाहू—निजामुल्मुल्क ?

राज-पुरोहित—हाँ, महाराज !

शाहू—अच्छा, पुरोहित ! तुम जाओ।

(पुरोहित का अभिवादन के अनन्तर प्रस्थान)

शाहू—तुम्हारा द्वेष सहन किया जा सकता था जाधव ! यह देश-द्रोह असह्य है। इसका बहुत कड़ा दण्ड तुम्हें मिलेगा। (ठहरकर)

अभी तक पिंगले का कोई समाचार नहीं आया। (हवा का नाद) तूफान चल रहा है।

(दरवाजे पर एक दस्तक होती है)

(बालाजी का प्रवेश)

शाहू—आइये।

बालाजी—(नमस्कार करके) महाराज की खोज में निकल आया हूँ।

शाहू—कहो, क्या समाचार है। केश बिखरे हुए हैं।

बालाजी—अच्छा, नहीं, तूफान चल रहा है।

शाहू—शीघ्र कहो।

बालाजी—कान्होजी ने बहिरोपन्त पिंगले को परास्त करके बन्दी बना लिया है।

शाहूजी—बन्दी ?

बालाजी—हाँ महाराज !

शाहूजी—मेरा अनुमान अक्षरशः ठीक हुआ।

बालाजी—क्या ?

शाहूजी—कि समुद्र पर विजय प्राप्त करना असम्भव है।

बालाजी—नहीं !

शाहूजी—नहीं, अब भी कुछ भेद है !

बालाजी—घबराइये नहीं महाराज ! विजय केवल बल से ही नहीं प्राप्त होती।

शाहूजी—मतलब।

बालाजी—जिसे हम तलवारों और भालों से प्राप्त नहीं कर सकते उसे—

शाहूजी—उसे क्योंकर प्राप्त करोगे पेशवा ?

बालाजी—उसे......अच्छा यह काम मुझे सौंपिए महाराज ! मैं अकेला जाऊँगा। उसकी मित्रता राष्ट्र की उन्नति और दृढ़ता के लिये जरूरी है।

शाहूजी—लेकिन तुम अकेले क्योंकर जाओगे पेशवा ?

बालाजी—कोई चिन्ता नहीं महाराज ! मैं उसे आपका मित्र बना कर लाऊँगा। अच्छा (नमस्कार करता है और जाता है)।

शाहूजी—माँ का सच्चा सिपाही। महाराष्ट्र के इतिहास में राज-नीति के ज्ञाताओं में तुम्हारा नाम बहुत ऊँचा रहेगा पेशवा ! तुम राष्ट्र को चार चाँद लगाने जा रहे हो (प्रतिमा की ओर मुड़ कर) माँ ! तू कितनी दयामयी है।

(नेपथ्य में गान)

आशा का दीप जलाये जा
जब गहन तिमिर की माया हो,
जब तूफानों की छाया हो,
तू दे दामन की ओट अरी,
अपना संसार रचाये जा।
आशा का दीप जलाये जा॥

(पट-परिवर्तन)

पाँचवाँ दृश्य

समय—झुटपुटा

(निजाम की राज-वाटिका में चन्द्रसेन जाधव)

चन्द्रसेन—शाहू महाराज़ ! तुम्हें मेरा अपमान बहुत मंहगा पड़ेगा। मैं केवल एक सेनापति हूँ। सेनापति बहुत कुछ कर सकता है। बालाजी के बल की खुमारी में तुम मेरा अनादर कर सकते हो। मैं वहाँ भी एक दास था और यहाँ भी। राष्ट्रीयता एक ढोंग है। यहाँ मैं निजाम का दाहिना हाथ हूँ।

(रम्भा जी का प्रवेश)

रम्भाजी—चन्द्रसेन ! क्या सोच रहे हो ?

चन्द्रसेन—कुछ नहीं।

रम्भा—बालाजी से बदला ?

चन्द्रसेन—यह तो मुझे कभी नहीं भूलता।

रम्भा—क्या वेतुकी सोचा करते हो?

चन्द्रसेन—तुम अपमान को सह सकते हो रम्भा जी! मैं नहीं।

रम्भा—नहीं चन्द्रसेन! मैं आज ही बदला लेने जा रहा हूँ। सारा गोला-बारूद दाँव पर लगा दूँगा। (प्रस्थान)

चन्द्रसेन—रम्भा जी! यह क्या कह गए? किस उलझन में डाल गए?

(हरिभाऊ का प्रवेश)

हरिभाऊ—नमस्कार! क्या मैं सेनापति की विचार-धारा में बाधा डाल सकता हूँ?

चन्द्रसेन—(चौंक कर) तुम हरिभाऊ! यहाँ कैसे? तुम्हारा भी अपमान हुआ है।

हरिभाऊ—नहीं। यह पत्र देने आया हूँ।

चन्द्रसेन—पत्र?

हरिभाऊ—हाँ। बालाजी ने दिया है।

चन्द्रसेन—ओह! केवल एक सेनापति को पत्र लिखने की उन्हें क्या जरूरत पड़ गई?

हरिभाऊ—इसे ध्यान से पढ़िए सेनापति! राष्ट्र खतरे में है।

चन्द्रसेन—(पत्र खोल कर पढ़ते हुए)

जाधव वीर! स्वदेश बड़ी आफत में है। माँ को तुम्हारी सेवा की जरूरत है। तुम शत्रु से जा मिले हो! गलती हर एक से हो सकती है। आंग्रे का विरोध पहले ही भयानक है। पिंगले उसकी कैद में है। मातृभूमि के लिए अपनी गलती का प्रायश्चित्त करो। तुम्हारे बिना कुछ न हो सकेगा। महाराष्ट्र भी तुम्हें उतनी जागीर दे सकता है।

मैं हूँ, तुम्हारा अपना पेशवा।

चन्द्रसेन—हरिभाऊ! तुम जाओ। इस पत्र का उत्तर समय पर मिल जायेगा।

हरिभाऊ—जैसी आज्ञा। (प्रस्थान)

चन्द्रसेन—हः ! हः ! हः ! गलती का प्रायश्चित्त ! लेकिन बालाजी········

(अपने वजीर के साथ निज़ामुलमुल्क का प्रवेश)

निज़ाम—चन्द्रसेन !

चन्द्रसेन—बन्दापरवर !

निज़ाम—तुम्हारे महाराष्ट्र में बहुत बदनजमी फैल चुकी है और देखो......अभी-अभी तुम बालाजी का नाम ले रहे थे।

चन्द्रसेन—जी !

निज़ाम—देखो उसका नाम न लिया करो।

चन्द्रसेन—उसको मैं कभी नहीं भूल सकता निज़ामुल्मुल्क ! उसी से तो मुझे बदला लेना है।

निजाम—बदला ! बहुत सहज बात है।

चन्द्रसेन—वह क्योंकर ?

निजाम—कान्होजी आंग्रे के जरिए। (कान में कुछ कहता है)

चन्द्रसेन—(अभिवादन करके प्रस्थान)

निजाम—मलिक साहब !

वजीर—आली जाह !

निजाम—रम्भा जी और चन्द्रसेन—ये दोनों जबरदस्त सरदार इस वक्त हमारे पास हैं। महाराष्ट्र की बुनियाद हिलने वाली है।

वजीर—और उस पर हमारी सल्तनत की दीवारें बनेंगी।

निजाम—हाँ—लेकिन ये लोग हिकमते अमली को खूब समझते हैं। इन्हें समझना टेढ़ी खीर है। देखिए मलिक साहिब ! सिद्दी के सरदारों की क्या खबर है ?

वजीर—जंजीरा पर पूरी रसद पहुँच चुकी है। लेकिन कान्होजी आंग्रे की फ़ौज के मुकाबले में बहुत मुश्किल पेश आ रही है।

निजाम—मरहठों के निफ़ाक से फ़ायदा उठाना चाहिए मलिक साहब ! मैंने चन्द्रसेन को आंग्रे के पास सुलह का पैगाम देकर भेजा

है। सब कुछ ठीक कर लेने पर भी, जाने इन पर यक़ीन नहीं बैठता। फिर भी जिस दिन रम्भाजी पेशवा से रूठ कर मेरे दरबार में आया था, मैंने उसी दिन समझ लिया था कि अब महाराष्ट्र के क़िले में दरार आ गई है।

(एक दूत का प्रवेश)

दूत—जहाँपनाह ! ग़ज़ब हो गया।

निज़ाम—क्या ? जल्दी कहो !

दूत—इस्लाहख़ाने से शोले उभर रहे हैं। कहते हैं—रम्भाजी निम्बाल्कर ने उसके नीचे एक सुरंग बिछा रखी थी। आपको उस पर बहुत यक़ीन था। उसे बालाजी ने धोखे से आपके पास जागीरदारी के लिए भेजा था। अभी-अभी दो मराठे सरदारों के साथ रम्भाजी भाग गये हैं।

निज़ाम—हूँ ! मलिक साहब ! आप जाकर मौक़े का मुलाहज़ा कीजिए। मैं एक टुकड़ी ले जाकर रम्भाजी का पीछा करूँगा। इन मराठों के पेंच समझ में नहीं आते।

(पट-परिवर्तन)

छठा दृश्य

समय—सन्ध्या

(कोनकन तट पर एक जलयान में कान्होजी और रत्ना वार्तालाप के सूत्र में]

रत्ना—चन्द्रसेन क्यों आया था ?

कान्होजी—निज़ाम के साथ सन्धि का प्रस्ताव लेकर।

रत्ना—कैसी सन्धि ?

कान्होजी—निज़ाम के साथ मिल कर शाहूजी का नाश।

रत्ना—आपने क्या जवाब दिया ?

कान्होजी—मैं डाकू हो सकता हूँ, नीच नहीं।

रत्ना—उत्तर बहुत अच्छा नहीं दिया। तो आप निजाम के साथ मिल क्यों नहीं गए ?

कान्होजी—क्यों मिलता ?

रत्ना—क्योंकि ऐसा करने से शाहू महाराज का नाश हो सकता था और राष्ट्र पतन के गर्त में जा सकता था। यही आपका ध्येय है न ?

कान्होजी—क्या बक रही हो रत्ना ? महाराष्ट्र के समुद्र की रक्षा करने के लिये मैं डाकू कहलाया। जान जोखम में डाल कर सिद्दी सरदारों के पर काटे।

रत्ना—और राष्ट्राधीश की सत्ता को उपेक्षा की दृष्टि से देखा।

कान्होजी—किसी की अधीनता मुझ से हो नहीं पाती।

रत्ना—मातृ-भूमि की।

कान्होजी—वह तो कर ही रहा हूँ।

रत्ना—हः ! हः ! हः ! देखिए आंग्रे सरदार ! यह चन्द्रसेन...

(द्वारपाल का प्रवेश)

दूत—(अभिवादन करके) बालाजी आपसे मिलने आए हैं।

कान्होजी—बाला जी ? उन्हें लिवा लाओ। रत्ना ! तुम अब जाओ।

रत्ना—लेकिन राष्ट्र...

कान्होजी—राष्ट्र कहीं नहीं जाता। (रत्ना का प्रस्थान) राष्ट्र की दीवानी।

(बालाजी का प्रवेश)

बालाजी—आंग्रे सरदार !

कान्होजी—कहिये, आज पेशवा को यहाँ आने की जरूरत क्यों हुई ?

बालाजी—माँ ने भेजा है।

कान्होजी—माँ ने ?

बालाजी—हाँ, कहती है—मेरा पुत्र मुझसे रूठ कर चला गया है, उसके आँसू नहीं थमते, कान्होजी।

कान्होजी—किन्तु एक ही सुपुत्र माँ का उद्धार कर सकता है पेशवा! मुझसे माँ को क्या आशा है?

बालाजी—आत्म-समर्पण।

कान्होजी—कहाँ?

बालाजी—राष्ट्र की वेदी पर। शाहू महाराज के सिंहासन पर।

कान्होजी—यह क्योंकर होगा!

बालाजी—आंग्रे सरदार! तुम्हें स्मरण नहीं, अपने पूर्वजों की सेवाएँ? तुमने भी तो शिवाजी के चरणों में बैठ कर समुद्रशक्ति बनाई है। शाहूजी भी शिवाजी का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। क्या तुम यह सहन कर सकोगे कि शिवाजी के रक्त से रंगी पुण्य-स्थली पर विदेशी अपने जहरीले दाँत गडाएँ।

कान्होजी—कभी नहीं, यह नहीं हो सकता।

बालाजी—यह होने वाला है। यह होगा। इसे तुम रोक सकते हो?

कान्होजी—मैं अपनी जान देकर भी उसे रोकूँगा। लेकिन मुझे परतन्त्र होना नहीं आता।

बालाजी—तुम पेशवा का पद सँभालोगे? मैं सिर्फ देश का एक सिपाही बन जाऊँगा।

कान्होजी—बालाजी यह उदारता? मैं गलती पर था। अधिकार तुच्छ है, मातृ-सेवा सर्व श्रेष्ठ। पेशवा! मैं आपका सेवक हूँ!

बालाजी—(सन्धि-पत्र निकाल कर) नहीं, यह देखो, पिंगले को छोड़ दो। कोनकन तट के साथ-साथ सूरत से पन्हाला तक का प्रदेश तुम्हारी जागीर है। तुम उसकी रक्षा करो। चौथ वसूल करके उचित भाग राज्य को दो।

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल—(अभिवादन करके) सतारा से एक दूत पेशवा को मिलने आए हैं।

कान्होजी—लिवा लाओ।

बालाजी—सतारा से दूत ? कुशल-समाचार होना चाहिए।

(दूत का प्रवेश)

दूत—(अभिवादन करके) पेशवाजी ! आपके लिए एक विशेष समाचार है।

बालाजी—कहो। हम सब एक हैं, कह दो।

दूत—रम्भाजी ने निजाम का इस्लाहखाना उड़ा दिया है। निजाम-मुल्मुल्क स्वयं उसका पीछा कर रहे हैं। सतारा पर आक्रमण होने-वाला है।

बालाजी—रम्भा जी कहाँ हैं ?

दूत—सतारा में फौज की कमान सँभाले खड़े हैं।

बालाजी—कोई चिन्ता नहीं। तुम जाओ।

(दूत का प्रस्थान)

कान्होजी—मैं कुछ कर सकता हूँ ?

बालाजी—हाँ, करना होगा। आंग्रे सरदार ! तुम पिंगले को साथ लेकर अहमदनगर पर चढ़ाई कर दो। निजामुल्मुल्क के घर पर उसकी शक्ति का नाश होना चाहिए।

कान्होजी—जैसी आज्ञा।

बालाजी—अच्छा, मैं चलूँ। (प्रस्थान)

कान्होजी—द्वारपाल !

द्वारपाल—महाराज !

कान्होजी—तुलाजी से कहो, मेरा घोड़ा तैयार करे और सेना भी।

द्वारपाल—जैसी आज्ञा (प्रस्थान)

कान्होजी—(वस्त्र ठीक करते हुए) आज राष्ट्र के ढीले पुरजों में वह चुस्ती आएगी···

(रत्ना का प्रवेश)

रत्ना—कहाँ जा रहे हो ?

कान्होजी—अहमदनगर पर चढ़ाई—(जाता है)

रत्ना—आज मन की साध पूरी हुई। कितना अच्छा हुआ (गाती है)

मन फूला नहीं समाता।
रवि-किरणें चोरी-चोरी
बरसाती मधु की डोरी,
भर जाती कुसुम-कटोरी,
भँवरों का मन ललचाता।
मन फूला नहीं समाता॥
पानी में पैंगे डाले,
पकड़े कमलों ने प्याले,
ऊपर वे बादल काले,
नीचे सागर लहराता।
मन फूला नहीं समाता॥

सातवाँ दृश्य

समय—प्रातःकाल

(पूना के समीप राजमार्ग पर तीन नागरिक)

पहला—मुझे रात एक बहुत ही अद्भुत सपना आया।

दूसरा—क्या ?

पहला—मैंने देखा—आकाश पर बादलों की काली भयानक टुकड़ियाँ हैं। अमावस्या की रात है। दो सितारे परस्पर विपरीत दिशा में चले जा रहे हैं। एकाएक काले बादलों ने दोनों को ढाँप लिया। फिर वे दोनों सितारे मानों किसी चुम्बक द्वारा आपस में मिल गए। एक कड़क-सी हुई। बादल फट गये।

तीसरा—बहुत अच्छा सपना है। मैं कहता हूँ—बहुत अच्छा सपना है।

दूसरा—राष्ट्र का सितारा बहुत ऊँचा है।

पहला—सुना है—कान्होजी आंग्रे शाहू महाराज के अधीन हो गए हैं !

दूसरा—अधीन नहीं, उनके मित्र बन गए हैं।

तीसरा—बहुत सुन्दर समाचार है। मैं कहता हूँ—बहुत सुन्दर समाचार है।

दूसरा—निजाम के इस्लाहखाने का भी खातमा खूब हुआ।

पहला—रम्भाजी ने तो खूब हाथ दिखाये !

दूसरा—यह सब बालाजी के मस्तिष्क की सूझ है।

पहला—रम्भा जी अब महाराष्ट्र के सेनापति हैं !

तीसरा—हाँ, सुना है—निजामुल्मुल्क ने सतारा पर आक्रमण किया है।

दूसरा—रम्भाजी की एक ही टुकड़ी ने उनके दाँत खट्टे कर दिए।

पहला—और कान्होजी ने, अहमदनगर में खूब लूट मचाई।

तीसरा—अरे निजाम खूब ठगा गया। ये लोग बहुत मोटी बुद्धि के होते हैं।

दूसरा—दक्षिण का वह सारा प्रदेश जिस पर यवनों की हुकूमत थी फिर से मरहटों के कब्जे में आ गया है।

पहला—यही देखो पूना का प्रदेश, वह देवी का मन्दिर। कितने दिनों के बाद इस पर राष्ट्र का भगवा झण्डा फहरा रहा है।

दूसरा—यह तो सृष्टि का क्रम है। मानव की विकट भूख का उदाहरण है। किसी के समाधि-खण्डहरों पर अपनी बस्ती बसाने का अभ्यास मानव को बहुत देर का है। वह अपनी निजी सम्पत्ति से सन्तुष्ट हो जाने वाला जीव है ही नहीं।

पहला—चन्द्रसेन आजकल कहाँ हैं ?

दूसरा—रम्भाजी का षड्यन्त्र देख कर निजाम को चन्द्रसेन पर शंका हो गई। चन्द्रसेन, सुना है, अंग्रेजों की शरण में आ गए हैं।

[नेपथ्य से गान "आज कंचन-सा उजाला"]

पहला—रत्ना गा रही है।

दूसरा—हाँ।

(रत्ना गाते-गाते आती है। पीछे हट कर तीनों नागरिक सुनते हैं)

(गान)

आज कंचन-सा उजाला।

लाल चन्दा सूर तारे,
लाल मन्दिर के कगारे,
लाल ऊषा-रश्मि-रज्जु,
ने किसी के पग पखारे,

आज धरणी के गले में सोहती है लाल माला।

आज कंचन सा उजाला॥

लाल झरने, नीड़ पानी,
लाल कुसुमों की कहानी,
लाल निखरी-सी मँजी-सी,
झिलमिलाती जिन्दगानी,

आज वसुधा के कणों में चमचमाती दीपमाला।

आज कंचन-सा उजाला॥

(गाना समाप्त होने पर)

दूसरा—रत्ना ! कहो, आजकल क्या समाचार है ?

रत्ना—समाचार ! अब कोई समाचार नहीं होगा।

पहला—यह चित्र दिखाओगी रत्ना ?

रत्ना—हाँ, हाँ, देखो।

दूसरा—[चित्र देख कर] यह पर्वत पर दीपक कैसा है ?

रत्ना—राष्ट्र की अमर-ज्योति !

तीसरा—और यह पास ही एक बुझा हुआ दीपक ?

रत्ना—उसकी अपनी सत्ता राष्ट्र की ज्योति में मिल गई है। वह बुझा नहीं अमर हो गया है।

पहला—और वह दूसरा चित्र ?

रत्ना— वह न देखो।

दूसरा—क्यों ?

रत्ना—ऐसे खड़े-खड़े नहीं, वह पूजा के योग्य है।

तीसरा—एक झलक दिखा दो।

रत्ना—नमस्कार करो। (बालाजी का चित्र दिखाती है)

सब—बालाजी विश्वनाथ ... नमस्कार।

रत्ना—यह राष्ट्र की अमर विभूति है। राजनीति-रत्न है। महाराष्ट्र की डूबती हुई नैया को इसने पार लगाया है।

दूसरा—तुम ठीक कह रही हो रत्ना ! चन्द्रसेन आजकल कहाँ है ?

रत्ना—राष्ट्र की सम्पत्ति राष्ट्र के पास है। इस समय मराठा शक्ति एकत्रित है। सब के पास अपनी-अपनी जागीर है। उसकी रक्षा करना हर सरदार का कर्तव्य है। यह बालाजी की सूझ है। आज उत्कर्ष की सीमा का यह दूसरा दौर बालाजी ने आरम्भ किया है। कल को सातारा में महाराज शिवाजी की वर्ष गांठ मनाई जायगी।

(गाती जाती है)

आज कंचन-सा उजाला।

(सब पीछे जाते हैं)

(पट-परिवर्तन)

आठवाँ दृश्य

समय—प्रातः

(सतारा का राज्य-भवन। सिंहासनारूढ़ शाहू महाराज तथा अपने-अपने स्थानों पर बैठे हुए मराठे सरदार। शिवाजी का चित्र टँगा है। चित्र की आराधना में देवदासी गा रही है]

जय महान जय राष्ट्र प्राण ।
जय महाराष्ट्र के अमर दान ॥
तेरे इंगित पर हिले धरा,
तेरी भृकुटी से काल डरा,
बस पीछे पीछे नियति चली,
तू जिधर उठाकर आँख चला,
हे तेज-पुंज हे कान्तिमान् !
हे महाराष्ट्र के अमर दान ॥
तुम उठो वीर लेकर कृपाण,
हो एक हाथ में शर कमान,
हिल उठे धरा आकाश जरा,
तुम छेड़ो ऐसी प्रलय तान,
फहरावें वे भगवे निशान ।
हे महाराष्ट्र के अमर दान ॥

बालाजी—मराठा सरदारो ! आज इस युग-पुरुष की वर्ष-गांठ मनाई जा रही है जिसका इतिहास राष्ट्र का इतिहास है। यद्यपि उसका स्थूल शरीर हम में नहीं है तो भी उसकी स्मृति-मात्र हम में नवजीवन का संचार कर देती है। राष्ट्र के इतिहास में यह दूसरा सुनहरा अवसर है जब मराठा शक्ति अपने उत्कर्ष पर पहुँची हो। यद्यपि शिवाजी महान् जागीर-प्रथा के विरुद्ध थे तो भी मैं यह समझता हूँ कि इस समय यही एक-मात्र उपाय है। आज इस उन्नत अवस्था में हमारा यह दिन मनाना उपयुक्त है। आओ, सब वीर मराठे अपनी-अपनी तलवारों पर हाथ रख कर उस महापुरुष के सामने घुटने टेक कर प्रण करें कि हम मातृ-भूमि के लिए अपना सर्वस्व तक लुटाते रहेंगे।

(सब उठते है। जय-जय नाद होता है। देवदासी गाती है)

"जय महान् जय राष्ट्र प्राण"

(यवनिका)

देश-भक्त सम्राट् पुरु

(डा० हरदेव बाहरी)

पात्र-परिचय

१. पुरु—मद्र-देश के सम्राट्, नाटक के नायक।
२. *आम्भी*—तक्षशिला का राजा।
३. *सिकन्दर*—यूनान के सम्राट्, जिन्होंने सन् ३२६ ई० पूर्व भारत पर आक्रमण किया था।
४. *सेल्यूकस*—सिकंदर के मुख्य सेनापति।
५. *उर्मिला*—राजा आम्भी की इकलौती पुत्री।

मद्र-देश के मन्त्री, सेनापति और सिकन्दर के शिविराध्यक्ष।

पहला दृश्य

[*स्थान*—झेलम नदी के तट पर महाराज पुरु का शिविर। *समय*—सायंकाल। शिविर में कोई विलास-सामग्री नहीं है। सजावट भी आडम्बर-रहित है। हाँ, शिविर में शस्त्रों का बाहुल्य अवश्य है। नेपथ्य में 'मद्र-महाराज पुरु की जय' का घोष निरंतर सुनाई पड़ रहा है। महाराज पुरु, मद्र-सेनापति और मद्र-मन्त्री का प्रवेश]

पुरु—सेनापति, सैनिकों से कहो, इस साधारण विजय पर ऐसे जय-घोष की आवश्यकता नहीं है।

सेनापति—तक्षशिला-नरेश पर विजय पाना और उन्हें वन्दी बनाना महाराज के लिये साधारण बात हो सकती है, किन्तु मद्र-सैनिकों के लिए तो यह उनकी चिरकालीन आकाँक्षा की पूर्ति है। वैसे तो पहले भी तक्षशिला-नरेश को हमारी सेनाओं ने आपके स्वर्गीय पिता वीर-प्रवर सम्राट् चन्द्र की अध्यक्षता में तीन बार पराजित किया है, किंतु......

पुरु—किंतु क्या ?

सेनापति—किंतु, इस बार आम्भी वन्दी वना लिया गया है।

मंत्री—हाँ, और इस बार उस दुष्ट और नीच को उसकी धृष्टता का पूरा-पूरा पुरस्कार दिया जाना चाहिये।

पुरु—एक महाराज के प्रति ऐसे शब्द कहना आर्य योद्धाओं के लिये उचित नहीं है, मंत्री !

मंत्री—क्षमा कीजिए महाराज, मद्र-देश के प्रत्येक हृदय में इस व्यक्ति के प्रति घृणा है। इसने विद्वेष-वश बार-बार पराजित होने पर भी आक्रमण करना नहीं छोड़ा। हमारे देशवासियों की सुख-शान्ति को एक युग से खतरे में डाल रखा है। उसके लिए 'नीच' और दुष्ट' शब्द अपर्याप्त हैं !

पुरु—फिर भी उदारता वीरों का अलंकार है । (सेनापति से) कहाँ हैं महाराज आम्भी ?

सेनापति—दूसरे शिविर में—आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

पुरु—उन्हें यहां ले आओ। हम उनके विषय में निर्णय करेंगे।

(सेनापति का प्रस्थान)

मंत्री—महाराज, मृत्यु-दण्ड से कम नहीं......

पुरु—(वात काट कर) मंत्री, तुम्हें मेरी बुद्धि और विवेक पर विश्वास नहीं है ?

मंत्री—है क्यों नहीं महाराज, किन्तु उदारता आपका वंशानुगत गुण है, इसीलिए भय होता है कि इस काले नाग को आप फिर खुला न छोड़ दें।

पुरु—भारत के विभिन्न राजवंशों के वैर को पीढ़ियों तक वढ़ाए जाना देश के हित में घातक है।

मंत्री—यह विवेक सभी में जागृत हो तभी न इसका शुभ परिणाम निकले ! साँप पर चोट की है तो उसे जीवित छोड़ना सदा के लिए की विभीषिका को आमन्त्रित करना है।

(सेनापति के साथ बंदीरूप में आम्भी का प्रवेश)

पुरु—(सेनापति से) इन के बन्धन खोल दो।

(सेनापति आम्भी के बन्धन खोल देता है।)

पुरु—आम्भी, हम आज तुम्हारा अन्तिम निर्णय करेंगे, तुम आर्य हो, क्षत्रिय हो—तुम्हें तुम्हारे उपयुक्त दण्ड मिलना चाहिए। (सेनापति) अपनी तलवार इन्हें दो।

(सेनापति अपनी तलवार आम्भी के आगे रख देता है)

पुरु—उठाओ आम्भी, तलवार उठाओ। मैं तुम्हें एक अवसर और देना चाहता हूँ—मुझसे द्वन्द्वयुद्ध करो।

मंत्री—महाराज !

पुरु—मंत्री ! मेरी तलवार पर आप को विश्वास रखना चाहिए। (आम्भी से) उठाओ आम्भी, तलवार उठाओ और सदा के लिए तक्षशिला और मद्र के संघर्ष को समाप्त कर दो।

आम्भी—(तलवार उठाकर) तलवार उठाने की शक्ति मुझ में है महाराज पुरु, किन्तु (तलवार पुरु के चरणों में रख कर) आज आपकी उदारता ने मुझे मोह लिया है। मुझे क्षमा कीजिए।

पुरु—क्षमा ! तुम्हें आम्भी ! मेरे पूज्य पिता की वृद्धावस्था में अपमान करने वाले व्यक्ति को क्षमा ! वह अतिथि बन कर तुम्हारे यहाँ आये थे—तुमने उन्हें बन्दी बना कर आर्य संस्कृति को कलंकित किया था, आम्भी !

मंत्री—तक्षशिला-नरेश ! एक बार स्वर्गीय महाराज ने भी आप पर दया की थी। कटाक्षराज के युद्ध में आपको हरा कर, बंदी बना कर भी जीवित छोड़ दिया था, उसका बदला आपने उन्हें अतिथि रूप में आमंत्रित कर बंदी बनाकर लिया था। क्या अपराध किया था उन्होंने ?

आम्भी—मैं अपने अपराधों के लिये लज्जित हूँ महाराज ! बदले की भावना ने मुझे आज तक अन्धा बनाये रखा था।

सेनापति—(व्यंग्य पूर्वक) एक दिन हमारे वर्तमान महाराजा को

भी तो मृत्यु-दंड सुनाया था आपने। वह किस अपराध में तक्षशिला-नरेश ?

पुरु—(हँस कर) अपराध तो मैंने किया था, सेनापति ! एक अरक्षित निस्सहाय अबला पर अत्याचार न सहकर आततायी कुमार कर्ण का मैंने वध किया था।

मंत्री—अबला की रक्षा करना आपका धर्म था।

पुरु—परन्तु आम्भी ! मुझे इस धर्म-कार्य के लिये फाँसी पर लटकाना चाहते थे। इनकी पुत्री कुमारी उर्मिला ने मेरी जान बचा दी और इनकी इच्छा पूरी न होने दी।

आम्भी—मुझे और लज्जित न करें। मैंने अनेक अपराध किए हैं—अब पतन के पथ से ऊपर उठना चाहता हूँ।

पुरु—(क्रोध में भरकर) पतन के पथ से ऊपर उठना चाहते हो ? कड़े शब्द मैं प्रयोग करना नहीं चाहता—फिर भी मैं समझता हूँ तुम्हारे लिए कोई भी शब्द कठोर नहीं है। तुमने विदेशी यवन सिकन्दर को भारत की स्वाधीनता को पददलित करने के लिये बुलाया। मैं अपने और पिता जी के अपमान को भूल सकता हूँ—किन्तु देश के प्रति तुम्हारा विश्वासघात अक्षम्य है।

आम्भी—मैं कह चुका हूँ, मुझे प्रतिशोध की भावना ने पागल बना दिया था। महाराज ! मैंने सिकन्दर को भारत-भूमि में आगे बढ़ने के लिये उत्साहित किया है—किन्तु आप अवसर देंगे तो सम्राट् सिकन्दर के विश्व-विजय के स्वप्न को चकनाचूर मैं ही करूँगा।

पुरु—आम्भी ! तुम विषैले सर्प हो—तुम पर विश्वास नहीं करूँगा, यवनों से युद्ध करने की शक्ति मेरी भुजाओं में है। तुम्हारे जैसे विश्वासघातकों को दण्ड देने की भी। राजहत्या का पाप तुमने किया—देश-द्रोह का अपराध भी तुम्हारे सर पर है। बोलो, क्या दण्ड तुम्हें दिया जाय ? मुझ से द्वंद्व-युद्ध नहीं करना चाहते तो मुझे न्याय करना ही पड़ेगा।

आम्भी—मैं अपने आपको आर्य और क्षत्रिय किस मुँह से कहूँ।

मेरे भूतकाल ने मेरा मुँह बन्द कर दिया है । किन्तु आप तो क्षत्रिय हैं—आर्य हैं। उदारता, क्षमा और दया को आप क्यों छोड़ते हैं! मैं अपना जीवन समर्पित करता हूँ, शरण में आता हूँ। क्या अ शरणागत को ठुकरा देंगे ?

—(सोच में पड़ जाते हैं ।)

मंत्री—(शंकित होकर) शत्रु पर दया करना राजनीति के विरुद्ध है महाराज !

पुरु—किन्तु, गुरुदेव ने तक्षशिला महाविद्यालय के दीक्षान्त उत्सव पर आदेश दिया था कि पुरु, तुम्हारे राज्य की नींव सत्य, धर्म और दया पर होनी चाहिये। गुरुदेव की आज्ञा का मैं पालन करूँगा। आम्भी, जाओ मैंने तुम्हें क्षमा किया।

मन्त्री—(साश्चर्य) क्षमा !

आम्भी—महाराज पुरु की जय ! आपकी उदारता का मैं बदला चुकाऊँगा। सिकन्दर को भारत से वापिस करूँगा।

पुरु—(सेनापति से) तक्षशिला-नरेश को आदर सहित झेलम-पार पहुँचा दो।

सेनापति—जो आज्ञा !

(आम्भी और सेनापति का प्रस्थान)

पुरु—मन्त्री जी, मेरी आत्मा इस समय बहुत सन्तुष्ट है।

मंत्री—किन्तु मेरा मन आशङ्का में काँप रहा है। स्वार्थी पुरुष कभी वचन पर दृढ़ नहीं रहता। ऐसे समय जबकि विदेशी सैन्य-दल टिड्डी दल की तरह मंडरा रहा है, अपने वैरी को चंगुल में पाकर छोड़ देना वीरता का कार्य भले ही हो—किन्तु बुद्धिमानी का नहीं। आपने जानबूझ कर संकट मोल लिया है।

पुरु—सम्भव है, आपका कथन सत्य ही हो, किन्तु संकट से डरकर मनुष्यता का पथ छोड़ देना आर्यों का धर्म नहीं। मन्त्री जी ! आइये, मेरे साथ आइये, जरा झेलम के तट पर शत्रु की गति-विधि को देखा जाय।

(दोनों का प्रस्थान)

[पट-परिवर्तन]

दूसरा दृश्य

(*स्थान*—झेलम के पश्चिमी तट पर सिकन्दर का सैनिक शिविर। *समय*—सायंकाल। शिविर की सजावट में यूनानी कला स्पष्ट रूप से प्रकट है, जिस में कमनीयता के स्थान पर भव्यता व्यापक रूप में पाई जाती है। शिविर में यथास्थान शस्त्रास्त्र रखे हुए हैं। जिनके निर्माण में भी भारतीयता नजर नहीं आती। यूनानी सम्राट् सिकन्दर और मुख्य सेनापति सेल्यूकस बातें करते हुए प्रवेश करते हैं।)

सिकंदर—सेल्यूकस, हमारे सहायक आम्भी को तो महाराज पुरु ने पराजित करके बन्दी बना लिया है। इससे हमारी भारत-विजय की योजना में कुछ बाधा तो पड़ेगी ?

सेल्यूकस—सम्राट् ! यूनानियों को आपकी वीरता पर विश्वास है और पराजय शब्द से वह परिचित नहीं हैं।

सिकंदर—मुझे भी अपने यूनानी सैनिकों का अभिमान है, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि भारत की चप्पा-चप्पा भूमि पर पाँव रखने के लिए हमें जितना संघर्ष करना पड़ा है—उतना कहीं नहीं करना पड़ा।

सेल्यूकस—भारतवासी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपने प्राणों पर खेलने को सदा प्रस्तुत रहते हैं, इस में तो सन्देह नहीं।

सिकंदर—वे रण-कुशल भी हैं—इसका प्रमाण महाराज पुरु ने दे दिया है। झेलम नदी के पार उतर जाने के सारे नाके उन्होंने रोक दिये हैं—दिन पर दिन गुजरते जा रहे हैं, किन्तु हमें उस पार पहुँचने का अवसर ही नहीं मिलता।

[एक यूनानी सैनिक का प्रवेश और सिकन्दर को अभिवादन करना]

सिकंदर—क्या समाचार है, सैनिक !

सैनिक—एक मद्र-दूत हमारे शिविर के पास मरा पाया गया है। उसके पास....

सिकंदर—(सक्रोध) मरा पाया गया है ! किसने मारा उसे ?

सैनिक—किसी हमारे ही सैनिक ने मारा होगा ! शत्रु को मार डालने में कोई हानि...

सिकंदर—हानि का प्रश्न नहीं है सैनिक, यह प्रश्न है आदर्श का, रणनीति का, नैतिकता, मनुष्यता और सभ्यता का। हम यूनानी भी आर्य हैं और भारतीय भी आर्य हैं। हमारे यहाँ दूत अवध्य है।

सैनिक—किसी सैनिक से भूल हो गई, सम्राट् (एक पत्र आगे बढ़ाकर) उस दूत के पास यह पत्र था।

(सिकन्दर पत्र लेकर सेल्यूकस को देता है)

सिकंदर—(सेल्यूकस से) पढ़ो, क्या लिखा है ! (सैनिक से) तुम शिविर-अध्यक्ष को मेरे पास भेजो।

(सैनिक का अभिवादन करके प्रस्थान)

(पत्र को मन ही में पढ़कर सक्रोध)

सेल्यूकस—उद्धत ! अभिमानी !! दुस्साहसी !!!

सिकंदर—किसे इतने अपशब्द कह डाले, सेल्यूकस !

सेल्यूकस—पुरु को, सम्राट् ! वह विश्वविजयी सम्राट् सिकन्दर की शक्ति को नहीं जानता। ज़ान-बूझकर मौत को निमन्त्रण देता है।

सिकंदर—क्या लिखा है ?

सेल्यूकस—लिखा है, यूनानी सेना भारत-भूमि की सीमा तुरन्त छोड़ दे। अन्यथा उसका अभिमान चूर्ण कर दिया जायगा।

सिकंदर—एक देश-प्रेमी इसके अतिरिक्त और क्या लिखता ? हाँ, आगे पढ़ो।

सेल्यूकस—लिखा है—मद्र-देश के स्वामी ने किसी के सामने मस्तक नहीं झुकाया—उसका मस्तक भारतीय वीरता का प्रतीक है—वह कटना जानता है—झुकना नहीं।

सिकंदर—और सिकन्दर भी उसी को झुकाना चाहता है, जिसने झुकना नहीं जाना। यह मक्खन पर तलवार चलाने नहीं निकला है, चट्टानों से टकराने निकला है।

सेल्यूकस—पुरु को यूनानी विश्व-विजयी सम्राट् की शक्ति का अनुमान नहीं है। मुट्ठी-भर सैनिक लेकर हमारी ईरान और गान्धार को जीतने वाली सेना का वेग रोकना चाहता है।

(शिविर के अध्यक्ष का प्रवेश)

अध्यक्ष—(अभिवादन करके) आज्ञा सम्राट् !

सिकंदर—अब आपकी आवश्यकता नहीं।

अध्यक्ष—(घबराकर) अर्थात् मुझे सेवा से पृथक् कर दिया गया ! मेरा अपराध···

सिकंदर—(मुस्कराकर) नहीं, नहीं ! मैं चाहता था कि मद्र-देश के दूत की हमारे जिस सैनिक ने हत्या की है तुम उसका पता लगाओ, उसे मृत्यु-दण्ड देने की व्यवस्था करो। लेकिन अब इसकी आवश्यकता नहीं है। महाराज पुरु ने यूनानी स्वाभिमान को चुनौती दी है। उनके न झुकने वाले मस्तक को झुकाकर ही मुझे चैन मिलेगा (अध्यक्ष से) तुम जाओ।

(अध्यक्ष का प्रस्थान)

सेल्यूकस—निश्चय ही सम्राट् ! हमें बिना विलम्ब शत्रु पर आक्रमण···

सिकंदर—किन्तु झेलम···

सेल्यूकस—आम्भी की दी हुई ७० नौकाएँ हमारे पास हैं; नौकाओं का पुल बनाकर अभी...

सिकंदर—अभी रातोंरात पार चलें। रात में युद्ध करना आर्यों के युद्ध-नियमों के विरुद्ध है। यूनान के मस्तक पर युद्ध-नीति के विरुद्ध चलने का कलंक सिकन्दर कभी नहीं लगने देगा।

सेल्यूकस—फिर ?

सिकंदर—आज जब पूर्व का आकाश सूर्य की रक्तिम किरणों से लाल होगा, तब झेलम का पानी भी यूनानियों के रक्त से लाल होगा। हम शत्रु के तीरों का सामना करते हुए पार उतरेंगे, रात में उन्हें असावधान पाकर नहीं।

सल्यूकस—किन्तु यह तो आत्महत्या है···

सिकंदर—(चिन्ता में पड़कर) जान पड़ता है मेरा विश्व-विजय का स्वप्न झेलम के पानी में सदा के लिए डूब जायगा।

(आम्भी का प्रवेश)

आम्भी—नहीं सम्राट्, आम्भी के जीवित रहते आपको निराश होने की आवश्यकता नहीं।

सिकंदर—(साश्चर्य) ऐं! तुम आम्भी, क्या तुम्हारे बन्दी होने का समाचार झूठ था?

आम्भी—परम सत्य है सम्राट्! किंतु वीरता के मद में मत्त रहने वाले पुरु को शब्द-जाल में फँसा कर उसके बन्धन से छूट आना आम्भी के लिए बाएँ हाथ का खेल है।

सिकंदर—तुमने क्या कहा उनसे?

आम्भी—मैंने कहा—आम्भी मुक्त होकर पुरु का मित्र और सिकन्दर का शत्रु होगा।

सिकन्दर—तो पुरु को दिए हुए वचन का तुम पालन नहीं करोगे? वचन का कोई मोल नहीं है तुम्हारे लिए आम्भी!

आम्भी—सम्राट्! मद्र और तक्षशिला की वंशानुगत शत्रुता है, वे मिल नहीं सकते।

सिकन्दर—पुरु ने तुम्हारा विश्वास कैसे किया?

आम्भी—वह अंधा है और मूर्ख—कहता है सत्य और दया की नींव पर उसके शासन की इमारत खड़ी है।

सिकन्दर—पुरु सच्चा मनुष्य है-परम उदार, वीर और कपटहीन।

आम्भी—वह आपके मार्ग का सबसे बड़ा कण्टक है, सम्राट्! उसे शीघ्र दूर कीजिए। मेरी राय में आज झेलम पार उतर कर शत्रु पर आक्रमण कर दिया जाय।

सिकन्दर—यह न्यायसंगत नहीं है।

आम्भी—युद्ध में सदा न्याय की रक्षा नहीं की जा सकती।

सेल्यूकस—हमारे सैनिक पड़े-पड़े ऊब गए हैं, उत्साहहीन हो गए हैं, वापिस लौटना चाहते हैं।

आम्भी—उन्हें यदि झेलम पार करने में अधिक संकट सहना पड़ा तो उन पर नियन्त्रण रखना सम्भवतः कठिन हो जायगा।

सेल्यूकस—और हमारे विलम्ब करने से अभिसार-नरेश भी हम से युद्ध करने आ पहुँचेंगे, फिर मद्र और अभिसार दो शक्तियों से एक साथ लड़ना पड़ेगा।

आम्भी—अभिसार-नरेश अब नहीं आयेंगे! मैंने उन्हें युद्ध से विरत कर दिया है।

सिकन्दर—कैसे?

आम्भी—अपनी बेटी उर्मिला का उनसे विवाह करने का प्रलोभन देकर।

सिकन्दर—तुम बड़े चतुर हो आम्भी, हम तुम्हें उचित पुरस्कार देंगे।

आम्भी—पुरु की पराजय मेरे लिए सब से बड़ा पुरस्कार है सम्राट्! इसी लिये आपसे निवेदन है कि इस समय शत्रु असावधान है। युद्ध पर विजय पाने की खुशी से वह उत्सव मना रहा है। इस समय हम पार जाकर शत्रु पर धावा बोल सकते हैं। मैं उस स्थान को जानता हूँ जहाँ झेलम में जल कम है—वहाँ से सहज ही हमारी सब सेना पार निकल जायगी।

(बादलों की गड़गड़ाहट सुनाई देती है)

सेल्यूकस—और यह बादलों की गड़गड़ाहट कह रही है कि अभी जोर की वर्षा होगी। घटाओं ने घोर अन्धकार कर दिया है—अन्धकार में हमारी सेना के जाने का पता भी शत्रु को नहीं लगेगा।

आम्भी—और वर्षा होने से जो कीचड़ होगी, उससे पुरु की गज-सेना बेकार हो जायगी। ऐसा सुयोग फिर नहीं मिलेगा सम्राट्!

सिकन्दर—आप लोगों की इच्छा पूरी हो। चलो, चलकर झेलम-पार जाने का प्रबन्ध किया जाय।

(सब का प्रस्थान)

[पट-परिवर्तन]

तीसरा दृश्य

[*स्थान*—उर्मिला का तम्बू। *समय*—रात का पहला प्रहर। उर्मिला सो रही है। आम्भी का प्रवेश]

आम्भी—बेटी उर्मिला, उठो, हम अभी यहाँ से कूच कर रहे हैं। सेनाएँ तय्यार हैं।

उर्मिला—किधर पिता जी!

आम्भी—यवन-सेना यहाँ से नदी पार करने में असमर्थ है। सिकन्दर चाहता है कि किसी दूसरे स्थान से झेलम पार करके मद्र-सेना पर चढ़ाई की जाय।

उर्मिला—तो मैं क्या करूँ?

आम्भी—हमारे साथ नहीं चलोगी क्या?

उर्मिला—नहीं, आपको भी नहीं जाने दूँगी। आप महाराज पुरु को वचन दे चुके हैं। मैं अभी घड़ी-भर पहले पुरु से मिलकर आ रही हूँ। आपने उनको अपना अधिपति स्वीकार किया है। आपने यवन सेनाओं को इस देश से बाहर निकालने में उन्हें सहायता देने का वचन दिया है।

आम्भी—बेटी तुम भोली हो। तुम राजनीति की बात क्या जानो!

उर्मिला—मैं इतना तो जानती हूँ कि पुरु ने परम उदारता से आपको छोड़ दिया है। कृतघ्नता महापाप है। मैं यह भी जानती हूँ कि देश-द्रोही नरक का भागी होता है। आप अपने देश को यवनों द्वारा पराजित होने में सहायता न दीजिए।

आम्भी—उर्मिला, पुरु मेरा शत्रु है। शत्रु को परास्त करना मेरा धर्म है। किस ढंग से वह परास्त हो सकता है, नीति में इसका कोई नियम नहीं है। सब साधन उचित हैं। तुम इन बातों को क्या समझो!

उर्मिला—मैं आपसे फिर प्रार्थना करूँगी कि पुराने वैर-भावों को त्याग कर पुरु का साथ दें। वह अपना शत्रु नहीं है। आपको क्षमा प्रदान करके उसने मित्रता का प्रमाण दिया है। सिकन्दर इतना भी न

कर सकेगा। अवसर पाकर वह आपको धोखा दे देगा। विदेशी को मित्र समझना, पड़ोसी को शत्रु बनाना, बुद्धि-संगत नहीं है।

आम्भी—(क्रोध से) उर्मिला, तुम मुझे निर्बुद्धि समझती हो!

उर्मिला—नहीं पिता जी, मैं तो साधारण नीति की बात कहती हूँ।

आम्भी—बस, बस! मैं जानता हूँ कि तुम पुरु का पक्ष करती हो। तुम पहले भी उसकी सहायता कर चुकी हो। याद है जब तुमने पुरु को कारागार से निकाल दिया था। यदि तुमने राज-मुद्रा चुराकर और उसकी मुक्ति का आज्ञा-पत्र लिखकर उसकी सहायता न की होती तो आज आम्भी मद्र-देश का सम्राट् होता (कुछ ठहरकर) और अब भी मैं देख आया हूँ। तुम्हारा घोड़ा 'रत्न' पुरु की सवारी का काम दे रहा है। बेटी! तुम यह मेरे साथ अन्याय कर रही हो। मद्र-देश का सम्राट् बनाना मेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। मेरे पश्चात् तुम्हीं मद्र-देश की स्वामिनी बनोगी।

उर्मिला—मैं ऐसा साम्राज्य नहीं चाहती। मुझे विश्वास नहीं कि सिकन्दर या सेल्यूकस हमें यह भोगने का अवसर देंगे।

आम्भी—मैं तुम्हें इसका विश्वास दिलाता हूँ।

उर्मिला—मैं यह भी कैसे मानलूँ कि मद्र-देश आपके हाथ आजायगा। पुरु परम शूर है। उसको जीतना असम्भव है।

आम्भी—मैं तुम्हें शुभ समाचार सुना दूँ। अभिसार-नरेश हमारे विरुद्ध नहीं लड़ेंगे।

उर्मिला—क्यों, उन्होंने तो सिकन्दर को यह लिख भेजा था कि हम यह सहन न कर सकेंगे कि विदेशी हमारी पवित्र मातृभूमि में आकर पाँव रक्खे।

आम्भी—हाँ, वे सिकन्दर की सहायता तो नहीं करेंगे, परन्तु उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया है कि वे पुरु से मिलकर हमारा विरोध भी नहीं करेंगे।

उर्मिला—बड़ा नीच है अभिसार का राजा!

आम्भी—वे तो तुम्हारी स्तुति करते थकते नहीं और तुम उनकी यों निन्दा करती हो। मैंने जब यह प्रस्ताव किया कि आप उर्मिला को अपनी रानी बनाएँ तो उनकी बांछें खिल गईं।

उर्मिला—मैं समझी! अर्थात् आप उनसे सौदा कर रहे हैं। आप अपनी बेटी देकर उससे पुरु का विरोध चाहते रहे। नहीं पिता जी! मैंने मन से पुरु को अपना पति धारण कर लिया है। आर्य-कन्या एक पति के होते हुए दूसरा विवाह न करेगी।

आम्भी—बेटी उर्मिला, राजनैतिक......

उर्मिला—मैं राजनैतिक विवाह नहीं करूँगी। मैं धर्म-सम्बन्ध चाहती हूँ।

आम्भी—उर्मिला! मैं पहले ही बहुत दुःखी हूँ। मुझे और नरक में मत धकेलो! मैं अभिसार-नरेश को क्या जवाब दूँगा? मैं नहीं चाहता कि तुम पुरु से विवाह करो। पुरु मेरा शत्रु है। क्या तुम मेरे शत्रु से विवाह कर लोगी? ऐसी सन्तान!

उर्मिला—अच्छा पिता जी, मैं विवाह नहीं करूँगी। मैं जीवन-भर कुंवारी रह कर आपकी सेवा करूँगी। ठीक है न!

आम्भी—मेरी सेवा यही है कि अभिसार-नरेश को अपना जीवन-साथी स्वीकार करो।

उर्मिला—आर्य-कन्या को आप यह बात फिर न कहिए। मैं...

[नेपथ्य में भेरी का शब्द]

आम्भी—वह सुनो सेनाएँ कूच रही हैं। मैं जाता हूँ। तुम क्या यहीं रहोगी?

उर्मिला—हाँ, यहीं।

आम्भी—तुम तो कहती थीं कि मैं युद्ध का दृश्य देखूँगी। क्षत्रियों को लड़ते देखूँगी।

उर्मिला—हाँ।

[नेपथ्य से आवाज—'महाराज आम्भी की जय हो']

आम्भी—अच्छा, मैं जाता हूँ। तुम चाहो तो तक्षशिला लौट जाओ।

उर्मिला—मुझे भी अपने कर्तव्य का निश्चय करना ही होगा।

[आम्भी का प्रस्थान—इसके बाद उर्मिला भी दूसरी ओर चली जाती है।]

(पट-परिवर्तन)

चौथा दृश्य

[झेलम के पूर्वी तट पर एक जंगल में सिकन्दर का तम्बू लगा है। *समय*—प्रातःकाल। सिकन्दर बीच में एक शानदार सिंहासन पर बैठा है। आसपास आम्भी, सेल्यूकस आदि हैं।]

सिकन्दर—महाराज पुरु को सम्मान के साथ भीतर लाओ!

(सैनिक का बाहर जाना)

(आम्भी से) तुम्हारी राजनीति सफल रही। परन्तु मैं समझता हूँ, यह विजय हमारा सर्वनाश है। सिकन्दर की नाड़ियों में भी आर्यों का खून है। आज तक उसने ऐसे ओछे उपायों से काम न लिया था! रात के अन्धेरे में छुप-छुप कर जाना, सोई हुई मद्र-सेना पर आक्रमण करना, वीरों को शोभा नहीं देता। यदि रात को वर्षा न हो जाती तो धरती की मिट्टी हमारे खून से लाल हो गई होती। वर्षा के कारण कीचड़ में पुरु की गज-सेना फिसलने लगी। पुरु का हाथी गिर पड़ा और चिंघाड़ मारता हुआ भाग निकला। मद्र-सेना ने समझा 'पुरु हार गया'। सेना भाग खड़ी हुई। हमारे घुड़सवारों ने पीछा किया!

आम्भी—परमात्मा ने वर्षा करके हमें आशीर्वाद दिया।

सिकन्दर—आम्भी, हमने धोखा किया। पुरु महावीर है! वह भागते हुए हाथी से कूद पड़ा और एक घोड़े पर सवार होकर मुड़ा, परन्तु न जाने वह घोड़ा क्यों बिदक गया। पुरु ने घोड़ा छोड़ दिया और पैदल ही हमारे सामने घुड़सवारों पर टूट पड़ा और ऐसे तीखे वार किये कि पलक मारते-मारते ही १००-१५० यवनों का वध कर डाला। ओह! कितना तेज था उसमें! उसकी दोनों तलवारें टूट गईं। कुछ क्षणों तक वह ढाल से अपनी रक्षा करता रहा। यदि वहाँ पर उसका एक भी साथी होता तो उसे तलवार देकर बचा लेता। परन्तु हमारे सैनिकों ने उसे

पकड़ लिया । इस अवस्था में भी वह लड़ा और ५ आदमियों को धरती पर पटक कर मार डाला ।

आम्भी—देखा न, आप तो न्याय-न्याय की पुकार मचा रहे हैं, और पुरु अन्त तक क्रूरता से बाज न आया ! कितना अत्याचार किया उसने—

सिकन्दर—नहीं; आम्भी, अत्याचार हमने ही किया । जब उसकी तलवारें टूट गई थीं, तब उस पर वार करना आर्योचित नहीं था ।

आम्भी—मैं तो एक बात जानता हूँ, अन्त भला सो भला । विजय हमारे हाथ रही है ।

(बन्दीरूप में सैनिकों के बीच पुरु का प्रवेश)

सिकन्दर—नहीं, नहीं, वास्तविक विजय पुरु को प्राप्त हुई है । हम हार गये हमने धर्म का त्याग किया। कायरता का प्रदर्शन किया । (पुरु से) आप हमारे बन्दी हैं। कहिए, आपसे कैसा व्यवहार किया जाए ?

पुरु— राजैसा जा कोराजा से करना चाहिए ।

सिकन्दर—ठीक है, मैंने अनेक देशों को विजय किया, परन्तु आप जैसा वीर-धीर योधा मैंने आज तक न देखा था । मेरा भारत आना सफल हुआ ।

आम्भी—आप अब इतने बड़े साम्राज्य के स्वामी बने हैं ।

सिकन्दर—नहीं, सिन्धु नदी से लेकर यहाँ तक हमने जितने राज्य जीते हैं, उनके अधिपति महाराजाधिपति पुरु हैं ।

आम्भी—(तलमलाते हुए) हैं पुरु ? और मैं ?

सिकन्दर—चौंकिए नहीं, आम्भी ! आपके योग्य पुरस्कार आप भी पायेंगे । (सनिकों से) सम्राट् पुरु की बेड़ियाँ खोल दो ।

(सैनिक बेड़ियाँ खोलते हैं)

(सेल्यूकस का प्रवेश)

सेल्यूकस—जहाँपनाह ! मद्र-देश की सेना ने हमारी सेना पर फिर आक्रमण कर दिया ।

पुरु—यह क्यों ?

सेल्यूकस—तक्षशिला की राजकुमारी उर्मिला से उत्तेजना पाकर भागते हुए मद्र-सैनिक थम गये। राजकुमारी उसी घोड़े पर सवार है जिस पर पकड़े जाने से पहले पुरु थे।

पुरु—'रत्न' राजकुमारी का ही घोड़ा है। उसने वह मुझे भेंट किया था।

सिकन्दर—समझा ! सेल्यूकस; तुरन्त जाकर सन्धि की श्वेत-ध्वजा फहरा दो और राजकुमारी से स्वयं जाकर कहो कि सिकन्दर भारत की देवी को प्रणाम करता है। कह दो-पुरु सुरक्षित हैं। चिन्ता मत करो। हमने उनको उत्तर-भारत का सम्राट् मान लिया है।

सेल्यूकस—जो आज्ञा।

(जाने लगता है)

पुरु—ठहरो ! (अंगूठी उतारते हुए) यह अंगूठी राजकुमारी उर्मिला को देकर विश्वास दिलाओ कि हम............(सोचकर) अच्छा, तुम ठहरो। हम स्वयं तुम्हारे साथ चलते हैं।

सिकन्दर—हम भी चलेंगे।

पुरु—नहीं, मित्रवर, ऐसी अवस्था में आपका जाना उचित नहीं है, राजकुमारी और मद्र-सैनिक उत्तेजना में कहीं आप पर आक्रमण न कर दें। आप यहीं रहें। हम अभी आ रहे हैं। चलो, सेल्यूकस !

(पुरु और सेल्यूकस का जाना)

आम्भी—यवनराज, आपने अपने वचन का पालन नहीं किया।

सिकन्दर—देश से विश्वासघात करनेवाला वचन-पालन की बात किस मुँह से कहता है। विश्वासघात तो तुम्हारा स्वभाव है।

आम्भी—पुरु की दया ने तुम्हें जीवन-दान दिया था, उसी की जान के तुम ग्राहक बने—कृतघ्न कुत्ते !

आम्भी—भारत की सीमा में आप मेरी ही सहायता से आए हैं, सम्राट् ! और आज मुझको शत्रु समझ रहे हैं ! पता नहीं, आप यह नाटक कर रहे हैं—या सत्य कह रहे हैं।

सिकन्दर—नाटक करना सिकन्दर का काम नहीं। नाटक तो आप करते हैं आम्भी! आपने समझा है कि सिकन्दर ने उस नाटक को जाना नहीं, यह आपकी मूर्खता है। याद रखो देश-द्रोही आम्भी का शत्रु भी सम्मान नहीं करता। देश पर मर-मिटना, देश-द्रोही द्वारा सुख, वैभव, प्रभुता प्राप्त करने से कहीं श्रेयस्कर है।

(पुरु, सेल्यूकस और उर्मिला का प्रवेश)

सिकन्दर—आओ राजकुमारी उर्मिला, तुमने भारत के मान को चार चाँद लगा दिए हैं। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। (आम्भी से) आप उर्मिला-जैसी वीरबाला के पिता हैं, इसलिये मैं आपको क्षमा करता हूँ। (उर्मिला से) इधर आओ बेटी! मैं तुम्हें पुरस्कार देना चाहता हूँ। महाराज पुरु, आप भी इधर आइये (पुरु को उर्मिला का हाथ पकड़ाकर) आज से तक्षशिला और मद्र-देश दोनों देश एक-प्राण हों—यह मेरी कामना है। तक्षशिला और मद्र ही नहीं, सम्पूर्ण भारत एकता के महत्व को समझे और अपनी प्राचीन और उच्च संस्कृति की रक्षा करे। झेलम के तट तक आकर भारत की जो झाँकी मैंने देख ली है, उससे मेरी आत्मा को सन्तोष हुआ है, ऐसी वीर जाति को न मैं गुलाम बना सकता हूँ—न उसे मिटाने का सपना देख सकता हूँ। केवल मित्रता का हाथ उससे मिला कर मैं वापिस जाने का निश्चय कर चुका हूँ।

सब—सम्राट् सिकन्दर की जय!

सिकन्दर—नहीं, बोलिए—'भारतभूमि की जय'।

सब—भारतभूमि की जय!

[पटाक्षेप]

७

जीता कौन ?

(श्री देवराज 'दिनेश')

पात्र-परिचय

माँ— ४५ की अवस्था वाली परिवार की स्वामिनी।

दीपक—माँ का सौतेला पुत्र।

मोहन—माँ का सगा पुत्र।

शीला—दीपक की पत्नी।

राधा—मोहन की पत्नी।

प्रथम दृश्य

(*स्थान*—पुराने ढंग का साधारण-सा मकान, मकान का सुन्दर सजा हुआ कमरा। एक ओर पलंग बिछा हुआ है, साफ़-सुथरा बिस्तर, दूसरी ओर एक मेज और दो-तीन कुर्सियाँ, मध्यमवर्गीय परिवार के दो प्राणी, माँ और दीपक बैठे हुए बातें कर रहे हैं।)

दीपक—माँ मान जाओ, मान जाओ मेरी अच्छी माँ।

माँ— मैंने तेरी अच्छी माँ बनने से इन्कार नहीं किया, फिर तू इस तरह दीनता के स्वर में क्यों बोल रहा है!

दीपक—मैं अपने लिए दीनता के स्वर में नहीं बोल रहा, किसी दूसरे के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ?

माँ—क्यों ? उसकी ज़ुबान पर ताला पड़ा हुआ है, क्या उसे यहाँ आते हुए शर्म आती है, उससे जाकर कहो कि उसे जो कुछ कहना है यहाँ आकर कहे ? और सुनो दीपक! मैं नहीं चाहती कि आगे से तुम भी वहाँ जाओ।

दीपक—मैं वहाँ न जाऊँ, यह कैसे हो सकता है माँ! वह मेरा भाई है, छोटा भाई! मेरे स्नेह का आधार! मैं उससे न मिलूँ, मैं

उसे इस बीमारी की दशा में अकेला छोड़ दूँ, यह कैसे हो सकता है ?

माँ—सब कुछ हो सकता है दीपक। तुम उसके लिए इतना सोचते हो, उसे भाई कहते नहीं अघाते ? क्या उस अभागे ने भी एक बार तुम्हें सच्चे हृदय से कभी भाई कहा ? जब तुम्हें ऐक्सीडेन्ट में चोट आई थी मैंने उसे दो बार सन्देश भेजा, तीसरी बार मैं बुढ़िया खुद गई, उसने जरा टीस तक महसूस नहीं की, मुझे बहू को लेकर खुद अस्पताल में जाना पड़ा, मेरा हृदय जानता है उस समय मुझ पर क्या बीत रही थी, कितने धक्के खाने पड़े, तब कहीं तुम्हारे वार्ड का पता चला, और अगर वह साथ जाता तो ज्यादा से ज्यादा दस मिनिट लगते, उसे किस बात का गुस्सा है हम पर—हमने कोई उसके खेत तो नहीं जलाए हैं ! बस छोटी-सी वही बात है न, कि उसकी बहू की अकड़ नहीं मानते, मैं सच कहती हूँ कि एक दिन वह बरबाद होकर रहेगा !

दीपक—धीरे बोलो माँ ! तुम्हारी तबियत भी तो ठीक नहीं और मैं जानता हूँ इसका कारण भी मोहन का यहाँ से जाना है। तुम बाहर से कितनी कठोर बनो पर मैं जानता हूँ तुम्हारा हृदय मक्खन की तरह कोमल और मीठा है। फिर वह तो तुम्हारा बेटा है उसके प्रति इतनी कठोरता शोभा नहीं देती !

माँ—(रुँधे स्वरमें) दीपक ! तुझे मेरे हृदय से उपहास करने का कोई अधिकार नहीं। तू मेरे हृदय की कठोरता पर आघात कर रहा है और सुन ले मैं अपने हृदय को पत्थर बना कर ही जीना चाहती हूँ ! मैं दुनियाँ की रुढ़ियों की परवाह नहीं करती। क्या तू मेरा बेटा नहीं ? क्या मैंने तुझे उतने लाड़-प्यार से नहीं पाला ?

दीपक—माँ मुझे गलत समझने की कोशिश मत करो। मैंने व्यंग्य नहीं किया था।

माँ—हो सकता है तुम ठीक कहते हो। हर दीपक! आज की दुनियाँ में यदि एक भाई को यह अधिकार है कि वह अपने भाई को भाई न समझे, तो क्या एक माँ को यह अधिकार नहीं कि वह एक बेटे को बेटा कहने से इन्कार करदे ?

दीपक—नहीं माँ; स्रष्टा ने यह अधिकार माँ को नहीं दिया। बाकी सब कुछ-न-कुछ इस बाँट में से पा चुके हैं।

माँ—और शायद तू इस बाँट के समय स्रष्टा से रूठा हुआ था। पर देख! मैं इस बार ईश्वर की आज्ञाओं की भी अवज्ञा कर जाऊँगी। फिर चाहे मुझे अपवाद के रूप में निर्मम माँ भी क्यों न कहलाना पड़े! भूल उसने की है, मैंने नहीं, मैं उसके लिए पश्चात्ताप क्यों करूँ? और जहाँ तक स्नेह से दुःख के उत्पन्न होने का प्रश्न है उसे मैं पा रही हूँ यह तुमसे छिपा नहीं है।

दीपक—वह अनजान है माँ, अबोध है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसे क्षमा करदें।

माँ—पर तूने तो उसे क्षमा कर दिया। बाकी मेरी इच्छा पर है कि मैं उसे क्षमा करूँ या न करूँ। और जहाँ तक अबोध का प्रश्न है अनजान का सम्बन्ध है, मैं इन भुलावों में नहीं आ सकती। मैं पूछूँ इस वक्त तेरी अवस्था कितनी है?

दीपक—तुम तो स्वयं जानती हो माँ। रही कोई अट्ठाईस के करीब होगी।

माँ—और वह तुमसे सिर्फ तीन साल छोटा है फिर तो तू भी अबोध हुआ। मैं कहती हूँ तू जो कर रहा है पागलपन कर रहा है तेरा उससे इतना प्यार भी बचपन है।

दीपक—यह क्या कह रही हो माँ?

माँ—मैं ठीक कह रही हूँ। मैं अबोध मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। मैं यह कभी नहीं मान सकती कि मैंने अपने एक अनजान बच्चे का विवाह कर दिया। मैं बाल-विवाह की पक्षपातिनी नहीं हूँ अभी। कुछ दिनों बाद यह बच्चों वाला होगा। क्या फिर भी वह अनजान ही रहेगा।

दीपक—हम तेरे बेटे हैं और तेरे लिए सदा बालक ही रहेंगे।

माँ—यह सब मैं मानती हूँ। पर आज मैं तर्क के आगे भावुकता को स्थान नहीं देना चाहती। वह अपने-आप को बहुत चालाक समझता

है और उसकी पत्नी इस बात पर अलग रहना चाहती है कि दुनियां की हर सास खूनी भेड़िया होती है। उनकी बातें उन्हें मानने दो। और सुन ! जहाँ तक अबोध होने का प्रश्न है वह मैं तुझे उससे अधिक पाती हूँ। वह लोग तेरे साथ दुनियांदार होकर रहना चाहते हैं, और मैं माँ होकर। (ऊँचे स्वर में) बहू ओ बहू ! चाय में और कितनी देर है बेटी शीला !

शीला—(नेपथ्य में) बस ला ही रही हूँ माँ जी !

दीपक—फिर माँ—तुमने मेरी प्रार्थना पर कुछ ध्यान नहीं दिया।

माँ—अवसर नहीं है बेटे ! तू स्वयं सोच। जिसने अपनी पत्नी के कहने में आकर अपनी बड़ी भाभी का अपमान किया हो, ऐसे पूत से तो मैं अपने को निपूती अच्छा समझती हूँ।

दीपक—भगवान् के नाम पर यह अपशब्द तो मत बोलो माँ।

माँ—यह अपशब्द नहीं, हृदय के उद्गार हैं। मैं उस परिवार से आई हूँ जहाँ माँ और बड़ी भाभी में कोई अन्तर नहीं पाया जाता। उस दिन उसने बड़ी भाभी को बुरा-भला कहा था। किसी दूसरे दिन मुझे भी कह सकता है और मैं तो यह समझती हूँ कि उसने मुझे ही कहा है।

दीपक—पर माँ, तुम्हें लोकाचार का भी ध्यान रखना चाहिए। पास-पड़ोस वाले क्या कहेंगे कि सगा बेटा बीमार है और माँ एक बार खबर तक नहीं लेने गई।

माँ—मैं लोकाचार की परवाह नहीं करती। मैं पास-पड़ोस वालों के घर खाने नहीं जाती। कोई क्या कहता है, इस पर मैं अधिक ध्यान भी नहीं देती।

(शीला मेज पर चाय लाकर रखती है)

माँ—चाय में आज बड़ी देर लगादी बेटी !

शीला—यह लकड़ी के कोयले हैं कि कम्बख्त दहकने में ही नहीं आते !

माँ—दुनियाँ में बड़ी बेईमानी चल रही है बेटी ! कोयलों को बोझल करने के लिए दुकानदार बोरियों पर ही पानी डाल देते हैं। दीपक ! तुम्हारी भावुक दुनियाँ में इनके लिए भी स्थान है। क्या यह भोली भाली जनता के लिए विषैले कीड़ों से कम हैं ? उन्हें क्या ? उन्होंने कोयले बेच दिए चाहे जलाने वालों की आँखें फूट जायें ! (रुक कर) अरे यह क्या बहू ! मैंने कितनी बार कहा है कि दूध की मात्रा अपनी चाय में अधिक रखा कर।

शीला—अच्छा माँ जी ! (दीपक से धीरे-से) फिर उस बात का क्या हुआ ?

दीपक—मेरा तो कोई जोर माँ के आगे नहीं चलता।

माँ—(समझती हुई) ओह ! तो यह बात है !

शीला—कुछ भी समझो माँ जी ! पर आपने वहाँ जाने के विषय में क्या सोचा ?

माँ—मैं उसके यहाँ नहीं जाऊँगी। बात यह है कि मैंने उसे जाने से भरसक रोका, उसकी अपनी इच्छा थी, चला गया और इच्छा होगी आ जायेगा। दीपक ! एक चम्मच मीठा और डालना मेरी प्याली में और वैसे बेटी यदि मेरा बस चले तो उसे इस घर की देहलीज पर पैर ही न रखने दूँ। अब तुम दो के सामने एक को तो हारना ही पड़ेगा क्योंकि आज की दुनियाँ में हर काम बहुमत से होता है।

दीपक—नहीं माँ ! कहीं-कहीं डिक्टेटर-शिप भी चलती है।

माँ—पर नहीं ! मैं आज की दुनियाँ में डिक्टेटर-शिप की कायल नहीं हूँ।

दीपक—तब ठीक है। तो चाय पीने के बाद चलो माँ—मोहन के घर चलें ! बहुमत इस बात के पक्ष में है।

माँ—पर बहुमत को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह मेरी व्यक्तिगत बात है। तुम स्वयं जानते हो कि मैंने उसे हाथ-कर जाने से रोका था पर वह मुझे धक्का देकर चला गया। वैसे

मैं बहुमत के आगे सिर झुकाती हूँ परन्तु बहुमत को बाद में होने वाली अनिष्टकारी शंकाओं का भी ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

शीला—कल चमेली की माँ कह रही थी कि मालूम नहीं बड़ी बहू ने सास पर क्या जादू-टोना कर रखा है कि वह अपने सगे बेटे से मिल भी नहीं पाती। सच कहती हूँ माँ जी! यह बात सुनकर कितनी ही देर मैं अपने कमरे में रोती रही।

माँ—धत् पगली! इसमें रोने की भला क्या बात थी। यह तो मैं भी जानती हूँ कि तूने मुझ पर जादू-टोना कर रखा है।

शीला—(चौंक कर) यह आप क्या कहती हैं माँ जी !

माँ—मैं सच कहती हूँ बेटा। तेरा स्वभाव इतना अच्छा है कि वह मुझ पर जादू का काम करता है, जो भी मुझ से पूछे मैं तो कहने को तैयार हूँ कि मेरी बहू ने मुझे प्यार से वश में कर रखा है। वैसे यह दुनियाँ के गण्डे-तावीज मुझ पर क्या असर करेंगे!

शीला—लेकिन माँ जी गंडे-तावीज़ चाहे असर करें या न करें पर दुनियां जो ताने देती है उनके आगे हृदय एक बार तो चीख पड़ता है।

माँ—मैं सब समझती हूँ तुमने दुनियाँ की यह बातें अभी-अभी शुरु की हैं और मेरे सुनते-सुनते कान पक गए हैं। शायद इसलिए अब मुझ पर इनका कोई असर नहीं होता क्योंकि मैं जानती हूँ कि यह निरर्थक होते हैं। तू, चिन्ता न कर, मैं अभी चमेली की माँ को बुला कर डाँटती हूँ। क्या कहती थी वह ?

शीला—यही कि सगे बेटे को छोड़ कर सौतेले बेटे के पास रहती है और सौतेला बेटा भी जायदाद के लोभ में ही इतनी सेवा करता है।

माँ—जिन लोगों ने अपनी जिन्दगी इसी तरह काटी है वह दूसरों से और आशा ही क्या कर सकते हैं? हाँ, यदि तुम लोग इस आक्षेप से दुःखी हो तो मुझे बताओ, मैं अकेली भी किसी जगह रह सकती हूँ!

शीला—माँ ! तुम हमसे ऐसी आशा कर सकती हो ?

दीपक—आज तक किसी ने दुनियाँ के कहे में आकर कभी अपनी माँ को छोड़ा है, जो दीपक छोड़ेगा।

माँ—दीपक की अलग बात है, लेकिन मोहन को मैं जानती हूँ।

दीपक—इसमें उसका दोष बहुत कम है।

माँ—क्यों ! भाई की आत्मा भाई के विरुद्ध गवाही नहीं दे रही। तुम कहते हो उसकी बहू का दोष है। चलो मैं भी मान लेती हूँ पर जैसे उसने हमें डाँटा था अपनी बहू को भी डाँट सकता था। मेरा हृदय कहता है—यही घटना दीपक से घटी होती तो......। मैं तो उसकी माँ हूँ। मैंने वह महान्-आत्माएँ भी देखी हैं जिन्हें आया ने पाला है और वह उसे माँ से बढ़कर प्यार करते हैं। जिन्हें ऊँच-नीच छुआ-छूत की भावनाएँ छू तक नहीं गईं, क्या अब भी तेरे पास है, कोई तर्क है ?

दीपक—मेरे पास तो तुम्हारी ममता के सिवाय कोई तर्क नहीं, माँ ! पर मैं अपना परिवार अपने जीवन में इस तरह उजड़ते हुए देखना नहीं चाहता। मैं परिवार को एक करके ही मानूँगा। वह कितने अर्थ-संकट में है, तुम नहीं जानतीं। एक महीने के करीब होने को आया वह बीमार है। उससे पहले भी दो-तीन महीने वह बीमार रहा है।

माँ—फिर किस अकड़ पर वह परिवार से अलग हुआ, भला मैं भी सुनूँ तो ! फिर हमीं कौन से धन-कुबेर बने बैठे हैं। कौन-सी जायदाद है मेरे पास जो चमेली की आँख में गड़ रही है। यही एक टूटा-फूटा मकान, जिस की हर साल सौ-सवा सौ रुपए लगाकर मरम्मत करानी पड़ती है। पता नहीं झूठ बोलते हुए लोगों की जीभ क्यों नहीं गल जाती। और देखो एक अन्तिम बात और कह दूँ क्या अब भी तुम मोहन को पचास रुपये देकर नहीं आए ?

दीपक—नहीं माँ ! कभी-कभी तुम व्यर्थ का सन्देह कर जाती हो। तीन-चार महीने से दफ्तर के रेस्टराँ वाले से चाय-पानी पीता रहा। सोचा कि अब की बार उतार ही चलूँ।

माँ—झूठा कहीं का !

द्वितीय दृश्य

(मोहन का कमरा । दिन के नौ-साढ़े नौ का समय । ज्वर के कारण मोहन खाट पर लेटा हुआ है सिरहाने रक्खी तिपाई पर दवाइयों की एक-दो शीशियाँ धरी हैं । सामने कुरसी पर राधा बैठी है ।)

राधा—तो क्या मैं झूठ कह रही हूँ ?

मोहन—और नहीं तो क्या ! तेरी ही बदौलत आज मुझे यह दिन देखना पड़ा । सच सच बता, यह रुपए तेरे मैके वालों ने भेजे हैं ? उनका इतना कलेजा होता तो वह पिछले महीने चिट्ठी डालकर मँगवाने पर न भेजते ? मैं सब जानता हूँ । मैंने जिन रुपयों के लिए भैय्या से कल इन्कार कर दिया था, तूने उनके देने पर इन्कार न कर, ले लिये हैं ।

राधा—फिर और मैं करती हो क्या ? दूध वाले का तकादे-पर-तकादा आ रहा था, मकान वाला दो फेरे डाल चुका है, फिर यदि वह दे भी गए तो इसमें एहसान की कौन-सी बात है ?

मोहन—(व्यंग्य से) ओह हो ! तो तुम इसे अपने बाप-दादाओं का जन्मसिद्ध अधिकार मानती हो !

सुधा—और नहीं तो क्या ! सासु जी न होतीं तो उनका खर्च कहाँ से चलता ?

मोहन—(व्यंग्य से) आज तो बड़े प्यार से सासू जी कहा जा रहा है । आदमी को इतना भी कृतघ्न नहीं होना चाहिए । पिता जी मरती बार जितनी दौलत छोड़ गए थे, मैं सब जानता हूँ । खाने को घर में अन्न का दाना तक नहीं था । भैय्या पढ़ना छोड़कर नौकरी न करते तो हम भूखों मर जाते । बड़ी आई कहने वाली—सासु जी का खा रहे हैं । पर मैं तो यह कहता हूँ कि तूने यह रुपए लिए ही क्यों ? जब इतनी ही आन की पक्की थी तो जहर खाकर क्यों न मर गई ? मरते-मरते थोड़ा मुझे भी दे देती, सारा झंझट खत्म हो जाता !

राधा—यह सब कहते तुम्हारी जीभ भी तो नहीं रुकती।

मोहन—सदियों से रुकी हुई वह तो चली ही गरीब आज है, और तुम्हें वह भी अखरता है। मैं कहता हूँ पिछले दो महीने किस बूते पर नौकर रक्खा था। क्या तुम दो आदमियों का खाना भी नहीं बना सकती थीं। एक वह भाभी है, मैं अपनी आँखों से देखता था—सुबह से शाम तक गृहस्थी के कोल्हू में बैल की तरह जुटी रहती थी और एक तुम रानी साहिबा थीं कि उन्हें फूटी-आँख भी नहीं देख सकती थी।

राधा—देखो जी! मैं कहती हूँ मुँह सम्भाल कर बोलो। मैं गालियाँ खाने को आदी नहीं हूँ। मैं बड़े खानदान की बेटी हूँ।

मोहन—वाह रे तेरा बड़ा खानदान! यही सिखलाते होंगे तेरे खानदान में। चलती बार तेरी माँ ने कहा होगा—जाते ही सास की चुटिया उखाड़ना; जेठ, जेठानी को कुएँ में धक्का दे देना।

राधा—देखो जी.........!

मोहन—चुप रहो। मैं आज जो कुछ करना चाहता हूँ उसे चुप रह कर सुनो। मेरा हृदय जलकर राख हो रहा है। मैं उस राख के कण चारों ओर बिखेरना चाहता हूँ। मैं पूछता हूँ तुम्हें मेरी माँ के घर क्या कमी थी? यही न! वहां तुम्हें अकेले में खाने को चाट नहीं मिलती थी। माँ नहीं चाहती थी कि भले घर की बहू-बेटियाँ गलियों में बैठकर पत्ता चाटती फिरें और तुम इसीलिए माँ का विरोध करती थीं।

राधा—नहीं! तुम्हारी माँ तो चाहती थी कि मैं चूल्हे के आगे महाराजिन बनकर बैठी रहूँ, कहारिन बनी सारा दिन बरतन मांजती रहूँ, भंगिन की तरह झाड़ू-बुहारी देती रहूँ।

मोहन—(क्रोध में) तो तुम्हारा मतलब है कि भाभी महाराजिन हैं, कहारिन हैं, भंगिन हैं। अच्छे घर से सम्बन्धित नहीं।

राधा—मैं तो यही समझती हूँ, मेरे पिता ने कुछ ही दिन हुए, कार खरीदी है। और तुम्हारी भाभी के मायके वालों को एक छाक-रोटी भी नसीब नहीं होती।

मोहन—तुम्हें तो होती है। मैं कहता हूँ अपनी जुबान पर ताला दो, नहीं तो कहीं मेरा हाथ न चल जाए।

राधा—(नकली रोती हुई) मार लो, मार लो! अब एक ही कसर थी।

मोहन—जरा और ऊँचा चीखो देवी जी! इससे गली मुहल्ले वालों को पता नहीं चला होगा। (साँस खींचकर) हे भगवान्, न जाने तू ने किस जन्म का वैर निकाला है। (राधा रोती चली जा रही है।) देवी जी! मैं सब मकर-फरेब जानता हूँ। अब यह तुम्हारा सूखा रोना मुझ पर कामयाब नहीं हो सकता। तो इस ख्याल से आँखें पोंछ लो, जिनमें एक बूँद भी आँसू नहीं हैं।

राधा—भगवान् के नाम पर इतना ऊँचा मत बोलो। इस वक्त भी तुम्हें १०२ डिग्री के करीब बुखार होगा।

मोहन—तुम्हें इससे मतलब! मैं मरूँ या जिऊँ, तुम्हारी बला से। न अभी तक तुमने मुझे दवाई दी और नाहीं दूध दिया। अगर कहीं चाट वाले ने आवाज दी होती तो भागती जातीं। तुम उस दिन मुझे मायके जाने की धमकी दे रही थीं, मैं पूछता हूँ अब तुम जाती क्यों नहीं?

(नेपथ्य में आवाज आती है)

मोहन, ओ मोहन।

मोहन—जाओ दरवाजा खोलो। शायद भैया आए हैं। फिर वहीं से दूसरे कमरे में चली जाना।

(दरवाजा खुलता है)

दीपक—अब तबियत का क्या हाल है मोनी।

मोहन—अच्छा हूँ भैय्या।

दीपक—खाक अच्छा है। ज्वर के मारे तेरा चेहरा लाल हो रहा है। दवाई पी?

मोहन—सब ठीक चल रहा है भैय्या। अभी कुछ ही देर हुई दवाई पीकर हटा हूँ। अभी-अभी सेब का टुकड़ा लिया है, दूध पिया है।

दीपक—तब ठीक है। एक बात कहूँ मोनी ? मेरा हृदय कहे बिना नहीं मानता। तुम घर चलो, तुम यहां पर सुखी नहीं हो, कल तुमने मेरे आग्रह को ठुकरा दिया था। पर आशा करता हूँ तुम मुझे निराश नहीं लौटाओगे।

मोहन—भैय्या ! मैं मजबूर हूँ। मैं तुम्हारे सामने अब भी उतना ही दीन हूँ जितना बचपन में था और यह भी सोचता हूँ उस दिन यदि तुम घर पर होते तो शायद यह सब कांड होता ही नहीं। मैंने एक बार पागलपन में आकर माँ के आगे बोलने की हिम्मत करली, शायद तुम्हारे आगे बोल भी न पाता।

दीपक—मैं सब समझता हूँ। पर तुम्हें अपनी मजबूरियों पर विजय पाना चाहिए न कि उनके आगे सिर झुकाना। घर चलोगे, सेवा ठीक ढंग से होगी और तुम्हारा स्वास्थ्य कुछ ही दिनों में ठीक हो जाएगा। और उधर माँ का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रह पा रहा है।

मोहन—मुझे दो दिन हुए रामजी के बेटे से यह सब मालूम हुआ था भैय्या ! तुम रुपये देने आए और दे भी गए। पर तुमने यह बात मुझसे नहीं की।

दीपक—मुझे शायद जल्दी में याद न रहा हो मोनी। क्षमा कर दो।

मोहन—क्षमा का इसमें कोई प्रश्न नहीं है भैय्या। हो सकता है यह सब मुझे न बताने की माँ की आज्ञा भी हो। मैं मां के स्वास्थ्य को तुम से कहीं अधिक पहचानता हूँ और यहाँ तक भी सोच सकता हूँ कि माँ तुम्हारा यहाँ आना भी पसन्द न करती होंगी और तुम उसे बिना कहे आते हो।

दीपक—मोनी ! यह सब तुम क्या कह रहे हो ?

मोहन—हाँ भैय्या। मैंने उसका दूध पिया है तुम तो उसकी गोदमें सिर्फ खेले-कूदे ही हो। मैं जानता हूँ माँ कितनी स्वाभिमानिनी हैं।

दीपक—मोनी ! तुम्हें उनके ममतामय हृदय के आगे सिर झुकाना चाहिए। वह ऊपर से कितनी भी कठोर हों पर आखिर माँ है ! यह तुम माँ के प्रति अन्याय कर रहे हो।

मोहन—मैं उनके प्रति इतना बड़ा अन्याय करके चला आया भैय्या ! जिसकी मुझे स्वयं जीवन में अपने से कभी भी आशा नहीं थी। अब इस छोटी-सी बात के लिए भला क्या दुःख होगा।

दीपक—बीती बातों को छोड़ो। तो क्या मैं आशा करूँ कि दफ्तर से लौटने पर तुम लोगों को उस घर में पाऊँ !

मोहन—नहीं भैय्या ! मैं अब अपने आपको इस योग्य नहीं समझता। मैं अपना यह कलंकित मुख लेकर किसी भी कीमत पर माँ के सामने नहीं जा सकता।

दीपक—पागलों-जैसी बातें नहीं करते, इस तरह के छोटे-मोटे झगड़े परिवारों में चलते ही रहते हैं। पर उनके कारण परिवार का नाश नहीं होना चाहिए।

मोहन—जो कुछ भी हो, मैं लौट जाने की क्षमता नहीं रखता।

दीपक—क्या यह तेरा दृढ़ विचार है ?

मोहन—दीख तो यही रहा है वैसे भविष्य के प्रति मुझे कोई विशेष मोह नहीं। यह क्या भैय्या ? तुम्हारी आँखों में आँसू ?

दीपक—तेरी भी तो यही दशा है। अच्छा ! मैं फिर चलता हूँ दफ्तर पहुँचना है।

मोहन—एक बात कहूँ ?

दीपक—बोलो।

मोहन—बुरा न मानो तो आगे से यहाँ मत आया करो।

दीपक—मोहन !

मोहन—मैं ठीक कह रहा हूँ भैय्या। मुझे आशा है कि तुम मुझ अकिंचन की प्रार्थना मान लोगे !

दीपक—जैसी तेरी इच्छा।

(दीपक का जाना, दरवाजा बन्द करके राधा का प्रवेश)

मोहन—देवी जी ! क्या मैं एक गिलास पानी पीने को माँग सकता हूँ ?

राधा—मैं इतनी बुरी नहीं हूँ, जितनी आप समझते हैं।

मोहन—क्या इस बात का मेरे पानी पीने से कोई सम्बन्ध है ?

राधा—ओह हो ! आज तो आप बिना बात ही लड़ने को पड़ रहे हैं।

मोहन—तो चलो पानी भी रहने दो। जब दूध और दवाई नहीं पी तो पानी पीकर कौन-से तीर मार लूँगा !

राधा—यह लीजिए। दो घूँट पानी पीजिए। तब तक मैं दूध गरम करके लाई।

मोहन—इस कृपा की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। मैं पानी से ही अपना काम चला लूँगा। (पानी पीता है) कहाँ जा रही हो, मैं कहता हूँ यहाँ बैठो।

राधा—लाइये, माथा दबादूँ !

मोहन—धन्यवाद ! तुम्हें कुछ मालूम है। हम लोगों में क्या-क्या बातें हुई।

राधा—हाँ, मैं दरवाजे की ओट में खड़ी सब कुछ सुन और देख रही थी।

मोहन—मुझे तुमसे पहले ही यह आशा थी। मैंने जो कुछ किया ठीक किया न ! भैय्या से कह दिया कि आगे से वह कभी यहाँ पर न आएँ।

राधा—यह तुमने बहुत बुरा किया। जब इनकी आंखों में आंसू आ गए थे, तो मेरी भी पलकें भर आई थीं।

मोहन—(व्यंग्य से) अच्छा ! तुम्हारी पलकों में ऐसी बातों पर भी आँसू आ जाते हैं। बड़ी अजीब बात है ! खैर, गलती से आ गए होंगे।

राधा—तुम क्या मुझे पत्थर ही समझते हो !

मोहन—नहीं ! मैं बेचारे पत्थर का अपमान कैसे कर सकता हूँ।

राधा—चलो, सासू जी के यहाँ चलें।

मोहन—चली जाओ ! मैंने तो तुम्हें नाहीं नहीं की। अच्छा है बना बनाया खाने को मिलेगा।

राधा—भगवान् के नाम पर कुछ तो मुझ पर रहम करो।

मोहन—कोशिश करूँगा। अब तुम जाओ। मुझे तनिक आराम करने दो। शायद बाहर चमेली की माँ आई हो।

तृतीय दृश्य

(*स्थान*—पहले दृश्य वाला मकान है, वही कमरा है। दीपक अस्वस्थ्य पलंग पर लेटा है, शीला सिर दबा रही है।)

दीपक—माँ कहाँ गई हैं। (साँस भर कर) ओह सारी देह दुःख रही है।

शीला—अभी कुछ देर पहले जब तुम सो रहे थे, तब तुम्हारे सिरहाने बैठी थीं तुम्हारा सिर दबा रही थीं, तुम्हें नींद आगई देख अचानक उठीं और बोलीं—बहू तू यहाँ बैठ! मैं अभी आई, थोड़ी-सी देर में।

दीपक—पर कहां गई। यह नहीं बता गई। तू ने जाने क्यों दिया जबकि तू जानती है कि उनसे अच्छी तरह चला-फिरा नहीं जाता।

शीला—मुझ में तो उन्हें टोकने या रोकने की हिम्मत है नहीं। घबराने की ऐसी क्या बात है! जल्दी ही आने को कह गई थीं। (रुककर) अच्छा यह दवाई पीलो।

दीपक—नहीं, मैं नहीं पीता।

शीला—क्यों! क्या माँ से डाँट खाने की इच्छा है। लो पी लो, ज़िद न करो, नहीं तो तुम्हारे साथ-साथ मुझे भी डाँट पड़ जाएगी। सुबह से ही वह बहुत उदास हैं, वैसे तो उदास वह उसी दिन से हैं जिस दिन से तुम्हारी तबियत खराब है। इधर फिर तुम सुबह से परिवार को एक करने की धुन में भाषण दे रहे थे। ज्वर में प्रलाप कर रहे थे। मां मोहन की ज़िद और तुम्हारी भावुकता पर सोच रही थीं।

दीपक—क्या मैं वास्तव में बड़बड़ा रहा था! हूँ; तब ठीक है मैं अब समझा। हो न हो, माँ अवश्य मोहन के यहाँ गई होंगी और हो सकता है तुम्हें बता भी गई हों। (दवाई पीता है)।

दीपक—अपनी सौगन्ध। मुझे कुछ भी बता कर नहीं गई। फिर

उन्हें मोहन के घर का रास्ता ही कब आता है ! और सच बात है मुझे उनसे ऐसी आशा बहुत ही कम है।

दीपक—कहती तो ठीक हो ! पर गई कहाँ। आज तक उन्हें बिना कहे घर से कहीं जाते देखा नहीं, चलो ! आने पर सब पता चल जायगा।

(दरवाजा खटखटाने की आवाज)

माँ—(बाहर से) बहू, ओ बहू !

शीला—लो माँ जी आ गईं, आई मां जी।

(दरवाजा खोलती है)

मोहन—भैया ! देखो तुम्हारा मोती आ गया।

दीपक—कौन, मोती ? मैं कबसे तेरा इन्तजार कर रहा था। मेरी आँखें तुम्हें देखने को तरस रहीं थीं।

मोहन—भैया ! भैया ! तुमने मुझे क्षमा किया कि नहीं ?

दीपक—किस बात के लिए पगले ?

मोहन—उस दिन न जाने किस उम्मीद में कह गया कि आगे से तुम मेरे यहाँ न आना।

दीपक—मैं तेरे प्यार को पहचानने में भूल नहीं कर सकता। मैं जानता हूँ उस उम्मीद में कितनी विवशता थी।

माँ—और बोल दीपू, और तुझे क्या चाहिए। तेरी माँ तेरे लिए सब कुछ कर सकती है, तेरे आगे मुझे भी झुकना पड़ा। तुम जीते मैं हारी।

दीपक—जिसे तुम हार कह रही हो, वही तुम्हारी सबसे बड़ी जीत है, तुम इस सम्मिलित परिवार की स्वामिनी हो माँ।

मोहन—फिर माँ ! तुम से कोई जीत जाए, यह कैसे हो सकता है !

माँ—(खुशी से) दुष्ट कहीं का ! क्यों रे दीपू, तूने दवाई पी कि नहीं ?

दीपक—कब की पी चुका !

माँ—तब तो तू मेरा राजा बेटा है।

मोहन—दीखता तो कुछ ऐसा ही है।

दीपक—वाह रे मेरे पुरखा (सब हँसते हैं)।

माँ—बड़ी बहू ! चाय का समय हो रहा है। क्या आज चाय नहीं पिलाएगी ! खुशी में मुझ बुढ़िया की चाय भूल जाना ठीक नहीं बेटा !

शीला—अभी बनाकर लाई मां जी।

राधा—ठहरो दीदी ! तुम यहीं बैठो। मैं चाय बनाकर लाती हूँ।

माँ—हाँ, हाँ शीला ! आज तू इसे रसोई का सारा काम समझादे फिर तू कुछ दिन आराम कर। वैसे तेरे दिन भी अब आराम करने के हैं बेटी !

मोहन—चाय के साथ कुछ खाने को नहीं मिलेगा क्या माँ ?

माँ—पकौड़े बनवालो ! पर एक शर्त पर।

मोहन—वह क्या ?

माँ—यदि दीपू न खाए तो।

दीपक—मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया है ?

माँ—देखता नहीं कि तुझे ज्वर चढ़ता है।

दीपक—सच कहता हूँ माँ ! मोहन के साथ पकौड़े खाते ही ज्वर उतर जाएगा।

माँ—(हँसी) अच्छा जा ! ऐसी बात है तो एक-दो पकौड़े खाने की भी आज्ञा दी।

दीपक—मेरी अच्छी माँ।

माँ—अरे, मैंने तेरी अच्छी माँ बनने से इन्कार ही कब किया है ?

(सब हँसते हैं)

पटाक्षेप

महाश्वेता

(श्री चिरञ्जीत)

पात्र-परिचय

सुधाकर शर्मा—प्राचीन मूर्तियों, शिला-लेखों और ग्रन्थों का प्रेमी एक रईस। आयु लगभग ४५ वर्ष।

कमला—सुधाकर शर्मा की पत्नी। आयु ४२ वर्ष।

महेन्द्र—सुधाकर शर्मा का छोटा भाई। आयु ३८ वर्ष।

डाक्टर कश्यप, पुलिस इन्सपैक्टर, भैरवनाथ, नौकर, रामू और सिपाही।

पहला दृश्य

[दिल्ली के एक पुराने रईसी ढंग के मकान का बैठक-खाना, जिसकी साज-सज्जा पहली ही दृष्टि में इस बात को बता देती है कि गृहस्वामी यथेष्ट रूप से सम्पन्न हैं और पुरातत्व में विशेष रुचि रखते हैं। जगह-जगह, तिपाइयों पर, ताकों पर, कार्निस पर, अलमारी पर संगमरमर, पीतल, तांबे, और कांसे की पुरानी मूर्तियाँ बड़े करीने से सजा कर रखी हुई हैं। कुछेक पुराने शिलालेख भी यहाँ-वहाँ दृष्टिगोचर होते हैं। बैठकखाने के दायें-बायें दो दरवाजे हैं। बाईं ओर का दरवाजा बाहर ड्योढ़ी में खुलता है और दाईं ओर का दरवाजा अन्दर के दूसरे कमरे में खुलता है। दूसरे कमरे में भी पुरानी वस्तुएँ मूर्तियाँ, शिलालेख इत्यादि—दिखाई देते हैं। दाईं ओर के दरवाजे के साथ ही शीशों वाली एक बड़ी-सी अलमारी रखी है, जो पुराने कागज और भोजपत्र के ग्रन्थों वा पांडुलिपियों से भरी हुई है। इस अलमारी को छूता हुआ, सामने वाली दीवार के साथ पुराने ढंग का एक बड़ा-सा पलंगनुमा तख्त है, जिसके पायों पर बड़ी सुन्दर नक्काशी की हुई है और ऊपर बढ़िया कालीन बिछा है—गाव तकियों के साथ। दीवार पर

दो-तीन जो चित्र टंगे हैं, वे भी पुरानी कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। नीचे फर्श पर बेल-बूटेदार पुराने ढंग की चांदनी बिछी हुई है। प्राचीनता के इस सारे वातावरण में नवीनता के केवल दो ही चिन्ह हैं—एक तो वे कुर्सियाँ जो तख्त के पास रखी हुई हैं और दूसरा वह टेलीफोन जो बाईं ओर के दरवाजे वाले कोने में तिपाई पर रखा है। यह टेलीफोन गृहस्वामी, पंडित सुधाकर-शर्मा की सम्पन्नता और ऊँची सामाजिक स्थिति का भी सूचक है।

जब पर्दा उठता है, तो पंडित सुधाकर शर्मा तख्त पर तकिये के सहारे लेटे हुए दिखाई देते है। उन्होंने रेशमी धोती-कुर्ता पहन रखा है। उनके एक हाथ में बाणभट्ट की 'कादम्बरी' है और दूसरे हाथ में सफेद स्फटिक पत्थर की एक बड़ी ही सुन्दर मूर्ति—जोगिन के वेश में शिवलिंग के सम्मुख वीणा बजाती हुई स्वर्णकुंतला हिमांगी रूपसी की मूर्ति। उसकी ओर सुधाकर-शर्मा निर्निमेष मुग्ध-दृष्टि से देख रहे हैं। उनकी आँखों में कुछ ऐसी चमक है, जिससे हृदय के उल्लास के साथ-साथ कुछ विक्षिप्तता का भाव भी व्यक्त होता है। सुधाकर शर्मा का रंग गोरा है, लेकिन पीलापन लिए हुए। वे अस्वस्थ हैं। अस्वस्थता-जन्य दुर्बलता के कारण उनके हाथ जरा कांप रहे हैं। कुछ देर बाद जब वे मूर्ति को सम्बोधित करते हुए अपने आप बातें करने लगते हैं, तो उनकी वाणी भी कांपती-सी जान पड़ती है।]

सुधाकर—(दुर्बल कांपते स्वर में) **महाश्वेता, कब तक वीणा बजाती रहोगी? कब तक भगवान् महादेव के पूजन में लगी रहोगी? पगली, जिसे पाने के लिए तुम इतने युगों से तपस्विनी बनी हुई हो, वही पुंडरीक सुधाकर शर्मा के रूप में तुम्हारे सम्मुख उपस्थित है। घनी लम्बी पलकों वाले अपने इन कमल-नयनों को उठाकर मेरी ओर देखो तो, महाश्वेता! ऐं! नहीं पहचानती?**

[पागलों की भाँति हँसता है। हँसी की आवाज सुनकर अस्तव्यस्त-सी कमला दाईं ओर के दरवाजे से आकर उसके सिरहाने खड़ी हो जाती है। कमला के चेहरे पर भयमिश्रित चिन्ता की कालिमा पुती हुई है। सुधाकर को कमला के आने का कुछ पता नहीं। वह पूर्ववत् मूर्ति से बातें करता रहता है।]

सुधाकर—मुझे नहीं पहचानती ? यह तुम्हारी पुरानी आदत है। पुंडरीक जब वैशम्पायन के रूप में तुम्हारे सम्मुख आया था, तो उसे भी तुमने नहीं पहचाना था। उसके प्रणय-निवेदन से चिढ़ कर उलटा उसे शाप दे दिया था। और बाद में पछताई थी। और अब फिर पहचानने में भूल कर रही हो। मुझे ध्यान से देखो, वीणावादिनी ! सुधाकर शर्मा के रूप में मैं पुंडरीक ही हूँ—प्रेम की अमर ज्योति के सहारे तीन बार मृत्यु के अन्धकार को पार करके आने वाला पुंडरीक। सुनती हो महाश्वेता ! मैं सुधाकर शर्मा नहीं; पुंडरीक हूँ। वीणा छोड़कर अपने पुंडरीक से दो बातें तो करो। देखो, मैं कब से अभ्यर्थना कर रहा हूँ। बोलो, महाश्वेता ! महाश्वेता !!

['महाश्वेता' ! 'महाश्वेता' ! कहते-कहते उसका स्वर ऊंचा होता जाता है, हाथ कांपने लगते हैं, जिह्वा लड़खड़ाने लगती है और फिर शिथिल होकर वह अचेत हो जाता है। कमला जल्दी से आगे बढ़कर उसे थामती है।]

कमला—[घबराई हुई-सी] रामू ! रामू !!

रामू—[अन्दर से आकर] क्या हुआ, बहू जी ?

कमला—इन्हें फिर दौरा पड़ गया।

रामू—[नब्ज़ देखते हुए] नब्ज तो चल रही है। मैं हवा करता हूँ अभी होश में आ जाएंगे। मामूली बेहोशी है।

कमला—नहीं, रामू ! डाक्टर को बुलाना होगा, यह बेहोशी मामूली नहीं। [जल्दी से टेलीफोन का चोंगा उठाकर डायल घुमाती है फिर घबराहट-भरे स्वर में] हैलो ! कौन ? डाक्टर कश्यप ? नमस्ते डाक्टर साहब ! शर्मा जी के घर में से कमला बोल रही हूँ—हाँ, जल्दी आइये—बिल्कुल बेहोश पड़े हैं—हाँ, उसी मूर्ति से बातें करते-करते बेहोश हो गए। आप जल्दी आइए, जल्दी—मुझे कुछ नहीं सूझता…

[टेलीफोन का चोंगा रखकर जल्दी से सुधाकर की ओर आती है और आंचल से हवा करती है।]

रामू—आ रहे हैं, डाक्टर साहब, बहूजी ?

कमला—हाँ, रामू। अब तो उन्हीं का भरोसा है या भगवान् का।

रामू—बड़े सरकार भले चंगे थे, न जाने एकाएक कैसे बीमार हो गये !

कमला—बीमार हो गए इस सत्यानाशिनी मूर्ति के कारण, और क्या, पता नहीं किस चुड़ैल का वास है इसमें ?

रामू—नहीं बहू जी, बड़े सरकार तो कहते हैं कि यह इन्द्रलोक की अप्सरा महाश्वेता की मूर्ति है। शक्ल-सूरत से भी कोई देवी जान पड़ती है।

कमला—[घृणा से] देवी ! देवी होती तो मेरे सुहाग में यों आग लगाने पर न तुल जाती । इसे आए तीन दिन भी नहीं हुए कि वे बीमार पड़ गए । तीन सप्ताह से इलाज हो रहा है, लेकिन कोई दवा लगती नहीं। [रुंधे गले से] भगवान् जाने क्या होने वाला है। [सिसकती है] मुझ निपूती का इनके सिवा संसार में कौन है !

रामू—धीरज धरिए, बहू जी।

कमला—मेरे घर में यह मनहूस मूर्ति आई है। हजार रुपया इस डायन पर फूँक दिया। मैं आज ही इसे तोड़ कर फेंकती हूँ। [सुधाकर के हाथ से मूर्ति छीनने का प्रयत्न करती है।]

रामू—[रोकते हुए]कहीं ऐसा न कर बैठिए, बहू जी। बड़े सरकार को यह प्राणों से भी प्यारी है। एक मिनट के लिए भी आंखों से ओझल नहीं करते। घर में और भी इतनी पत्थर, पीतल और कांसे की मूर्तियां हैं लेकिन बड़े सरकार तो इस मूर्ति के अलावा और की तरफ आंख उठा कर भी नहीं देखते ।

कमला—वे तो किसी को भी नहीं देखते। पता नहीं क्या मोहिनी है इस हत्यारी मूर्ति में।

[नेपथ्य में कार आने की आवाज]

कमला—डाक्टर साहब आ गए। रामू, तू रसोई में जाकर पानी गर्म कर ! इंजक्शन लगाएँ !

रामू—अच्छा, बहू जी [दायें दरवाजे से जाता है।]

[बाईं ओर के दरवाजे पर दस्तक, कमला जल्दी से दरवाजा खोलती है और एटैची केस उठाए डाक्टर कश्यप प्रवेश करते हैं।]

डाक्टर—कैसी तबियत है ?

कमला—वैसे ही अचेत पड़े हैं।

डाक्टर—[तख्त के पास आकर सुधाकर शर्मा को ध्यान से देखते हुए] हुआ क्या था ?

कमला—कल की तरह आज भी सवेरे कै हुई। कुछ देर बाद कहने लगे कि मेरा हृदय बैठा जा रहा है। मैंने आपकी दवाई की एक मात्रा दी। फिर सिर दर्द की शिकायत करने लगे, और अभी जब मैं उनके कमरे में आई, तो उन्हें पागलों की तरह इस मूर्ति से बातें करते पाया कि मैं पुंडरीक हूँ।

डाक्टर—[सोचते हुए] बीमारी का कहीं दिमाग पर असर न हो गया हो !

कमला—देखिए डाक्टर साहब, यह दौरा इन्हें बार बार पड़ता है, इस लिए बेहतर होगा अगर आप कुछ देर पास बैठकर इनकी हालत की जांच करें !

डाक्टर—[स्टैथस्कोप से हृदय की परीक्षा करते हुए] हृदय की गति धीमी है, लेकिन कोई चिन्ता की बात नहीं। शर्मा जी, शर्मा जी !

कमला—हम, यह तो बोलते नहीं, डाक्टर साहब। (रोने लगती है)

डाक्टर—धीरज धरिए, कमला जी। इन्हें कुछ नहीं हुआ। मामूली बेहोशी है, अभी दूर हो जाती है।

कमला—यह तो पसीने से तर हुए जा रहे हैं।

डाक्टर— यह अच्छा ही है। पसीना आने से तबियत हल्की हो जायेगी। इंजेक्शन लगाता हूँ।

कमला—(ऊंचे स्वर से) रामू ! रामू गर्म पानी ले आ !

(रामू पानी लाता है। डाक्टर सुधाकर शर्मा के इंजेक्शन लगाता है। सभी उत्सुकता से रोगी को देखते हैं।)

डाक्टर—(कुछ देर बाद) अब इन्हें होश आ रहा है। शर्मा जी, सुधाकर शर्मा जी !

कमला—हाँ, कुछ होंठ हिले हैं। [गले में अंचल डाल कर भगवान् को धन्यवाद देती है।]

सुधाकर—[जैसे बेहोशी में बड़बड़ाते हुए] नहीं, मैं सुधाकर शर्मा नहीं, मैं पुंडरीक हूँ, वही पुंडरीक जो दूसरे जन्म में वैशम्पायन बनकर आया था, तुम्हारे पास, महाश्वेता !

कमला— यह तो फिर वैसा ही प्रलाप करने लगे, डाक्टर साहब !

डाक्टर—अभी पूरी तरह होश में नहीं आये ! धीरज रखिए। चिन्ता की कोई बात नहीं। [जरा मुस्कराकर] मूर्ति को अब भी हाथ में लिये हुए हैं।

कमला—[गुस्से से] सारा दोष इस मनहूस मूर्ति का ही है। किसी चुड़ैल का वास है इसमें।

डाक्टर— इतने बड़े विद्वान् की पत्नी होकर आप यह क्या कह रही हैं। बीमारी के साथ भला इस मूर्ति का क्या सम्बन्ध ? और फिर शर्मा जी पुरातत्व के विद्वान् और प्राचीन कला के प्रेमी होने के कारण बरसों से पुरानी मूर्तियों, शिलालेखों और प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों की दुनिया में ही रह रहे हैं, [रुककर] लीजिये, शर्माजी ने आंखें खोल दीं। शर्मा जी ! शर्मा जी !

सुधाकर—[होश में आकर, दुर्बल स्वर में] अरे, मैं कहाँ आ गया ! अभी, अभी तो मैं कैलाश पर्वत के अच्छोद सरोवर पर बने महादेव के मन्दिर में था—महाश्वेता के पास।

डाक्टर—[जरा हँस कर] परन्तु, शर्माजी, महाश्वेता तो आपके हाथ में है।

सुधाकर—यह मूर्ति न ? (डाक्टर की ओर ध्यान से देखकर) ऐं, डाक्टर साहब ! आप कब आए ?

डाक्टर—शुक्र है, आपने मुझे पहचाना तो। अब आप की तबियत कैसी है !

सुधाकर—बिल्कुल अच्छी है, परंतु नहीं, सिर में कुछ दर्द है। [छाती पर हाथ रखते हुए] यहाँ सीने में भी। और पिंडलियाँ काठ की

तरह अकड़ी हुई है। (कमला सिसकती है।) कमला, तुम क्यों रो रही हो? पगली, मैं बिल्कुल भला चंगा हूँ, कोई चिन्ता की बात नहीं।

कमला—[रुंधे गले से] मैं इस मनहूस मूर्ति को घर में नहीं रहने दूँगी। यह बीमारी इसी की लाई हुई है।

सुधाकर—कमला, तुम्हें तो अकारण ही इस मूर्ति से चिढ़ हो गई है। यह तो रूप और प्रेम की देवी महाश्वेता है।

डाक्टर—[हंसकर] और आप पुंडरीक!

सुधाकर—अरे, आपने मेरे मन की बात कैसे जान ली?

कमला—अभी कुछ देर पहले बड़बड़ाते हुए आप ही तो कह रहे थे।

सुधाकर—[ओह! जरा मुस्कराता है।]

रामू—भगवान् का लाख लाख धन्यवाद, सरकार स्वस्थ हो गए। चलिये बहूजी, रसोई में।

कमला—रामू, आज रसोई नहीं बनेगी।

सुधाकर—क्यों रसोई नहीं बनेगी? मुझे तो भूख लग रही है।

डाक्टर—शर्मा जी, आपको तो सिर्फ दूध ही मिलेगा।

सुधाकर—डाक्टर साहब, अब तो मैं ठीक हो गया हूँ। आज खाना खाऊँगा। कमला जाओ रसोई में। कोई चिन्ता की बात नहीं।

कमला—[ठंडी साँस लेकर] चल रामू। डाक्टर साहब, आप जाइयेगा नहीं।

[कमला और रामू अन्दर जाते हैं।]

सुधाकर—हां, डाक्टर साहब, यदि फुर्सत हो तो कुछ देर बैठिए यहां। [मूर्ति की ओर मुग्ध दृष्टि से देखता है]

डाक्टर—शर्मा जी, यह मूर्ति तो सचमुच बड़ी सुन्दर है।

सुधाकर—महाश्वेता है यह।

डाक्टर—जैसा रूप-रंग, वैसा ही नाम। इन मूर्तियों की तरह इसका भी कोई इतिहास होगा?

सुधाकर—[जरा उठकर बैठते हुए] हाँ, बिल्कुल प्रामाणिक इतिहास है। आप ने कवि बाणभट्ट की 'कादम्बरी' पढ़ी है।

डाक्टर—अजी, हम डाक्टरों को साहित्य पढ़ने का मौका कहाँ मिलता है !

सुधाकर—खैर, मेरी तो आप जानते हैं, शुरू से ही प्राचीन संस्कृत-साहित्य और इतिहास में रुचि रही।

डाक्टर—इसलिये आज आप पुरातत्व और इतिहास के इतने बड़े विद्वान् समझे जाते हैं और आपका घर अच्छा खासा अजायबघर बना हुआ है।

सुधाकर—यह अब शौक की बात है। हाँ, तो मैं कवि बाणभट्ट की 'कादम्बरी' की बात कर रहा था। यह है वह पुस्तक। [पुस्तक दिखाता है]

डाक्टर—तो क्या आप आजकल इसे ही पढ़ रहे हैं।

सुधाकर—हाँ वैसे तो मैं इसे पहले भी कई बार पढ़ चुका हूँ। विद्यार्थी-जीवन से ही मुझे यह बड़ी प्रिय लगी है, परन्तु इधर जब से यह मूर्ति मेरे हाथ लगी है; इसे मैंने फिर से पढ़ना शुरू किया है। और अब मुझे ऐसा लगने लगा है, मानो कोई काल्पनिक कथा न होकर, सच्ची घटना दी गई हो, जो जन्म-जन्मान्तर से होती आ रही हो [जरा रुककर] मुझे प्यास लगी है !

[डाक्टर तिपाई पर से लोटा उठाकर पानी देता है।]

डाक्टर—शर्माजी, मेरा ख्याल है कि अब आप आराम कीजिए। कादम्बरी की कथा फिर कभी सुनूँगा।

सुधाकर—अजी नहीं, आपको फिर कब फ़ुर्सत मिलेगी ?

डाक्टर—लेकिन आपको आराम की जरूरत है।

सुधाकर—मुझे आराम तो साहित्य-चर्चा में ही मिलता है। और फिर बीमारी तो शरीर के साथ चलती ही रहती है।

डाक्टर—सिर दर्द का क्या हाल है ?

सुधाकर—पहले से कम है, ठीक हो जाएगा।

डाक्टर—इंजेक्शन से आपको लाभ हुआ है ?

सुधाकर—आपने इंजेक्शन लगाया था ? बेहोशी में मुझे मालूम नहीं हुआ। बाजू में थोड़ी-सी टीस जरूर है।

डाक्टर—यही इंजेक्शन लगाया था।

सुधाकर—हाँ, तो कवि बाणभट्ट की कादम्बरी में महाश्वेता नाम की एक गंधर्व-कन्या की कथा आती है, जो रूप-लावण्य में अद्वितीय थी, कवि बाण-भट्ट ने उसके सौन्दर्य का इस प्रकार वर्णन किया है- [पढ़ने लगता है]

डाक्टर—लेकिन मेरी समझ में क्या आयेगा, मैं संस्कृत तो जानता नहीं।

सुधाकर—कोई बात नहीं, मैं अनुवाद करके सुनाता हूँ। सुनिये:— उसका शरीर मानो सफेद मोतियों से बनाया गया था, चन्द्र-मंडल में से काट कर मानो वह निकाली गई थी, मृणालों से मानो उसके अंग रचे गये थे, हाथी-दांत से मानो वह गढ़ी गई थी, चन्द्रमा की किरणों की कूंची से मानो वह स्वच्छ की गई थी, अमृत के फेन से मानो वह धवल की गई थी, पारे की धारा से मानो वह धोई गई थी, चांदी के रस से मानो वह पोती गई थी, कुटुज, कुंद और सिंधुवार के फूलों की कान्ति से मानो चमकाई गई थी।

डाक्टर—[हंसकर] ये कवि लोग भी खूब हैं, रूप की प्रशंसा में कैसे कल्पना के पुल बाँधते हैं !

सुधाकर—नहीं डाक्टर साहब, महाश्वेता थी ही ऐसी सुन्दरी।

डाक्टर—खैर साहब, होगा।

सुधाकर—हाँ, असल बात तो रह ही गई। इन्द्र-लोक की गौरी नाम की अप्सरा उसकी माँ थी। एक दिन वह अपनी माँ के साथ अच्छोद सरोवर पर नहाने आई। वहीं उसकी पुंडरीक नाम के मुनि-कुमार से भेंट होगई। दोनों एक दूसरे पर आसक्त हो गए। पुंडरीक को क्षण भर के लिए भी उसका वियोग सह्य नहीं था। जब महाश्वेता उससे मिलने के लिए आई, तो पुंडरीक प्राण त्याग चुका था। महाश्वेता को इसका बड़ा

दुःख हुआ और वह अच्छोद सरोवर के तट पर महादेव के मन्दिर में तपस्विनी बन कर रहने लगी, और निशिदिन हाथी-दांत की वीणा पर शिवस्तुति गा-गाकर प्रिय-मिलन की प्रार्थना करती। कुछ वर्षों बाद पुंडरीक वैशम्पायन के रूप में जन्म लेकर उसके पास पहुँचा, पर महाश्वेता उसे पहचान न सकी। सो वैशम्पायन ने जब प्रणय-निवेदन किया तो उसने क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया और वह तोता बन गया।

डाक्टर—तो उसी महाश्वेता की यह मूर्ति है!

सुधाकर—मैं यही मानता हूँ। वैसा ही इसका रूप-रंग है, सूर्य की किरणों-जैसी ये जटायें धारण कर तपस्विनी का वेश बनाये, वैसे ही यह वीणा बजा रही है। कभी-कभी मुझे इस वीणा का स्वर भी सुनाई देता है। [आंखें बन्द करके ध्यानमग्न हो जाता है।]

डाक्टर—यह मूर्ति आपको मिली कहाँ से?

सुधाकर—[आंखें खोल कर] यह मूर्ति? यह मूर्ति मुझे पुरानी विचित्र वस्तुओं के एक पहाड़ी सौदागर से मिली। कोई एक महीना हुआ, वह अपना माल बेचने यहाँ आया था शायद लोगों से उसे मालूम हो गया होगा कि मैं पुरानी विचित्र वस्तुएँ खरीदा करता हूँ। उसके सारे माल में से मुझे यही स्फटिक पत्थर की मूर्ति पसन्द आई। उसे यह हिमालय की एक गुफा से मिली थी। इसकी बनावट से मैंने अनुमान लगाया कि वह कम से कम सात-आठ सौ वर्ष पुरानी है। देखिए न, इसकी बनावट पर विदेशी मूर्ति-कला का प्रभाव नहीं। है न?

डाक्टर—ये सूक्ष्म बातें तो आप जैसे कलाविद् ही समझ सकते हैं। मैं चीरफाड़ करने वाला डाक्टर भला क्या जानूँ!

सुधाकर—वह पहाड़ी सौदागर एक हजार में राजी होगया। दरअसल वह इसके महत्व को नहीं समझता था। मैं फौरन ताड़ गया था कि वह उसी महाश्वेता अप्सरा की मूर्ति है। इसे पाकर मुझे कुवेर का खजाना मिल गया हो, और अब तो मेरी यह दशा हो चुकी है कि मैं एक पल भी इसे अपनी आँखों से ओझल नहीं कर सकता। जो

चाहता है दिन-रात इसे हृदय से लगाए इसकी रूप-माधुरी का पान करता रहूँ।

डाक्टर—आपका हाथ कांप रहा है। शर्माजी, मूर्ति को ऊपर ताक पर रख दीजिए।

सुधाकर—नहीं डाक्टर साहब, मैं इसका वियोग नहीं सह सकता। एक दिन कमला ने जल-भुन कर इसे कहीं छिपा दिया था। मुझे लगा, जैसे किसी ने मेरे प्राण ही हर लिए हों। शायद उसी दिन से मैं बीमार हूँ। ओह! (कराहता है।)

डाक्टर—क्या हुआ, शर्माजी फिर दर्द··· ?

सुधाकर—नहीं, कुछ नहीं, (हांफता है) और जब कमला ने मुझे यह वापस दे दी, तब जाकर कहीं मुझे चैन आया।

डाक्टर—विलक्षण है आपका यह लगाव।

सुधाकर—(गम्भीर होकर) लगाव ? यह जन्म-जन्मांतर का लगाव है, डाक्टर साहब। देखिए, मैं आवागमन के सिद्धान्त को मानता हूँ। इस मूर्ति के प्रति मेरा जो लगाव है, उससे लगता है कि किसी पूर्व जन्म में इससे मेरा सम्बन्ध रह चुका है। आत्मा तो अमर है। मुक्ति से पहले वह जन्म-मरण के चक्र में घूमती रहती है। हो सकता है कि महाश्वेता के प्रेमी पुंडरीक की आत्मा अब मेरे शरीर में निवास कर रही हो। मेरा मन कहता है कि (एकाएक रुक जाता है।)

डाक्टर—क्या हुआ शर्माजी ?

सुधाकर—(कराह कर) ओह! कुछ नहीं, सीने में बड़े जोर का दर्द! ओह! सिर में चक्कर आ रहा है, और···[वाक्य पूरा नहीं कर पाता, धड़ाम से लेट जाता है।]

डाक्टर—(जल्दी से उठकर इंजेक्शन का सामान निकालते हुए) कमला जी! कमला जी! रामू!

(अन्दर से दोनों भागे आते हैं।)

कमला, रामू—(घबरा कर) क्या हुआ, डाक्टर साहब ?

डाक्टर—फिर दौरा पड़ा है। रामू, पानी गर्म करो। इंजेक्शन लगाता हूँ।

कमला—(घबरा कर) जा रामू, जल्दी से···।

रामू—अभी लाया ! (रामू जाता है)

कमला—आँचल से सुधाकर का मुँह पोंछते हुए) डाक्टर साहब, यह तो पसीना-पसीना हुए जा रहे हैं।

सुधाकर—(छटपटा कर दर्द से कराहते हुए) ओह ! यह दर्द ! जैसे मेरे कलेजे को कोई अन्दर ही अन्दर काट रहा हो ! हे भगवान्।

कमला—(बिलखते हुए) डाक्टर साहब, जल्दी कुछ करिए। मैं हाथ जोड़ती हूँ, मेरा सुहाग बचाइए। (सिसकने लगती है।)

डाक्टर—इंजेक्शन का सामान ठीक करते हुए) घबराइये नहीं, कमला जी, दौरे का जोर है, अभी ठीक···(रामू पानी लेकर आता है)

रामू—यह लीजिए गर्म पानी, डाक्टर बाबू।

कमला—जल्दी इंजेक्शन लगाइए।

सुधाकर—(पागलों की तरह छटपटाए हुए) वह कहाँ है ?

कमला—कौन ? मेरी ओर आप देख रहे हैं ?

सुधाकर—(शून्य में देखते हुए) वह मेरा भाई था, छोटा भाई। मैंने उसे बेटे की तरह पाला था·········

डाक्टर—महेन्द्र के बारे में कह रहे हैं ?

सुधाकर—हां, कहाँ है मेरा महेन्द्र ? अपने हिस्से की सारी सम्पत्ति उड़ा कर भाग गया नालायक। कहां है वह ?

रामू—(रोते हुए) सरकार, वे तो दार्जिलिंग हैं।

सुधाकर—(छटपटाते हुए) उसे बुलाओ। नालायक होकर भी वह मेरा भाई है। मरते समय मां ने उसे मुझे सौंपा था। (कमला को घूरते हुए) तुम कौन हो ?

कमला—(रोकर) हाय, यह तो अब किसी को पहचानते भी नहीं। डाक्टर साहब, जल्दी इंजेक्शन लगाइए। नहीं तो···हाय, मेरी

दुनिया अंधेरी हो रही है। रामू, जा दौड़ कर महेन्द्र को तार दे आ। उस डायरी में पता लिखा है।

डाक्टर—(इंजेक्शन लगा कर) यह क्या जाएगा, तार मैं दे आता हूँ।

कमला—नहीं, डाक्टर साहब, आपको मैं एक मिनिट के लिए भी यहां से नहीं जाने दूँगी। महेन्द्र की बजाय पहले इनकी चिन्ता कीजिए। आप मेरे धर्म के भाई हैं। अपनी बहन का सुहाग बचाइए। मुझ निपूती का संसार में कोई नहीं···कोई नहीं··· (रोती है)

डाक्टर—कमलाजी, धीरज धरिए। शर्माजी अभी ठीक हो जाएंगे।

कमला—कहां ठीक हो जायेंगे ? इनकी दशा तो बिगड़ती ही जा रही है।

सुधाकर—(मूर्ति को भुजपाश में भींचते हुए, विक्षिप्त भाव से) महाश्वेता ! महाश्वेता !! आखिर मैंने तुम्हें पा लिया। कितने जन्मों से तुम मेरे साथ आंखमिचौनी खेल रही थीं।

कमला—डाक्टर भाई, यह फिर प्रलाप करने लगे !

डाक्टर—(किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सा) इंजेक्शन लगाया है। अभी ठीक हो जायेंगे।

सुधाकर—(पूर्ववत्) महाश्वेता ! महाश्वेता !! बजाओ अपनी यह हाथी-दांत की वीणा, बहाओ स्वर्गिक संगीत की धारा, ऐसी धारा कि मैं उसमें डूब जाऊँ। (अपने वक्ष को दबाते हुए) ओह ! यह दर्द ! यह दर्द ही तो मिलन की सीढ़ी है। (छटपटा कर) मेरा कंठ सूखा जा रहा है। अमृत-रस की दो बूँदें टपका दो, वीणावादिनी !

कमला—डाक्टर साहब, यह हत्यारी मूर्ति इनके हाथ से छीन लीजिए।

डाक्टर—नहीं कमलाजी, शर्माजी इसे नहीं छोड़ेंगे।

कमला—(चिल्ला कर) यह डाकिनी इनकी छाती पर चढ़ कर प्राण ले रही है। अपने पति की हत्या होते मैं नहीं देख सकती। इस सत्यानाशिनी को मैं नहीं छोड़ूँगी।

(सुधाकर के हाथ से मूर्ति छीनने का प्रयत्न करती है)

रामू—(रोक कर) बहूजी, मूर्ति न छीनिए !

सुधाकर—(पूर्ववत् प्रलाप करते हुए) महाश्वेता, हमारे मिलन में आज कौन बाधा डाल रहा है ? कौन तुम्हें मुझ से छीन रहा है ? (जुबान लड़खड़ाने लगती है) संसार की कोई शक्ति महाश्वेता को पुंडरीक से अलग नहीं कर सकती । मैं पुंडरीक······

(सुधाकर का शरीर अकड़ने लगता है । मुँह से झाग निकलने लगते हैं)

कमला—(एकाएक घबरा कर) डाक्टर साहब, देखिए इनके मुँह से झाग निकलने लगे ।

डाक्टर—(चौंक कर) यह क्या ? कुछ समझ में नहीं आ रहा ।

कमला—रामू, भाग कर किसी दूसरे डाक्टर को बुला ला । मैं अपनी सारी सम्पत्ति दे दूँगी । डाक्टर साहब, आप ही कुछ करिए । इनका सारा शरीर अकड़ता जा रहा है ।

डाक्टर—(एकाएक) इन्हें विष दिया गया है । (रामू उलटे पाँव लौट आता है)

कम०-रामू—(भय से चौंक कर) विष !

डाक्टर—हां, विष !

कमला—(गिड़गिड़ाते हुए) डाक्टर साहब, जल्दी कोई उपाय कीजिए ।

(सुधाकर निश्चेष्ट हुआ जा रहा है)

डाक्टर—लेकिन, यह तो अब·········

सुधाकर—(लड़खड़ाते हुए अस्फुट स्वर में) महा···श्वेता···मैं···आ···रहा··· (हिचकी आती है और सुधाकर शर्मा का प्राणांत हो जाता है । कमला और रामू चीत्कार कर उठते हैं)

कमला—(सुधाकर शर्मा के शव पर गिरते हुए) हाय ! मैं लुट गई !

(कमला जब विलाप कर रही है, डाक्टर जल्दी से भाग कर टेलीफोन का चोंगा उठाता है)

डाक्टर—(डायल घुमा कर) हैलो ! पुलिस स्टेशन ! पुलिस स्टेशन !

(इन्सपेक्टर फोन कर रहा है, तभी खट से पर्दा गिरता है)

दूसरा दृश्य

(वही पहले दृश्य वाला बैठकखाना। समय तीसरा पहर। सारा सामान अस्त-व्यस्त अवस्था में दिखाई देता है। यहाँ-वहाँ कागज, कपड़े, दवाई की शीशियां बिखरी पड़ी हैं। सभी चीजों पर धूल जमी हुई है। लगता है जैसे कई दिनों से बैठकखाना झाड़ा-बुहारा नहीं गया। तख्त पर महाश्वेता की मूर्ति पूर्ववत् रखी है। पर्दा उठने पर एक कुर्सी पर कमीज-पैंटधारी एक ३७-३८ वर्ष का पुरुष बैठा दिखाई देता है। उसने अपनी टांगें तिपाई पर फैला रखी हैं। वह सुधाकर शर्मा का छोटा भाई महेन्द्र है। वह बड़े मनोयोग से एक बड़े आकार के दैनिक समाचार-पत्र के अन्दर के पृष्ठ पढ़ रहा है, जिससे उसका चेहरा दिखाई नहीं देता। दैनिक पत्र के मुखपृष्ठ पर मोटे अक्षरों में यह समाचार छपा है—"पं० सुधाकर शर्मा की विष से मौत······ संदेह में उनकी पत्नी और नौकर गिरफ्तार!" कुछ देर बाद टेलीफोन की घंटी बजती है। महेंद्र अखबार तिपाई पर रख कर जल्दी से उठता है और टेलीफोन का चोंगा उठाता है।)

महेन्द्र—(टेलीफोन पर) हैलो! हां, मैं पं० सुधाकर शर्मा के मकान से बोल रहा हूँ—शर्माजी का छोटा भाई महेन्द्र—हां, मैं दार्जिलिंग में था। कल रात यहां पहुँचा हूँ। आपका शुभ नाम? अच्छा! जी हां, यह समाचार ठीक है। उनका देहान्त हो गया है। क्या कहा? हां, डाक्टरी रिपोर्ट और पोस्टमार्टम जांच से यही पता चलता है कि उनकी मृत्यु विष से हुई—कौन, कमलाजी और रामू? सन्देह में पुलिस ने दोनों को गिरफ्तार कर लिया है। हां, हां, पुलिस ने पता लगाया है कि पिछले दो सप्ताह से भाई साहब—जब वे अधिक बीमार हुए—एक मिनट के लिए भी घर से कहीं बाहर नहीं गए और घर में भाभी और नौकर के सिवा कोई नहीं था। जी हां, डाक्टर ने भी इस बात की पुष्टि की है—हां, हां, यह समाचार आपने अखबार में पढ़ा ही होगा··· जी हां, शहर के इतने बड़े रईस और विद्वान् का आकस्मिक निधन कोई मामूली घटना नहीं—हां, मैं जानता हूँ, इससे सारे शहर को गहरा आघात पहुँचा है। क्या कहूँ, मैं तो अनाथ हो गया हूँ। (रुँधे गले से)

मेरे तो मां, बाप, भाई, बहन सब कुछ वही थे—इस सहानुभूति के लिए धन्यवाद !

(टेलीफोन का चोंगा रखता है)

महेन्द्र—(स्वगत) टेलीफोनों का तांता बँधा हुआ है। कभी भैया के परिचितों का फोन, कभी पुलिस वालों का फोन, कभी अखबार वालों का फोन, कभी सभा-सोसाइटियों के फोन...... कभी...... (एकाएक उसकी दृष्टि तख्त पर रखी महाश्वेता की मूर्ति पर पड़ती है और वह बात अधूरी छोड़ कर उसकी ओर एकटक देखने लगता है। कुछ सोच कर वह मूर्ति की ओर बढ़ता है, तभी बाईं ओर के दरवाजे को कोई खटखटाता है। वह जल्दी से मुड़ता है।) कौन ?

डाक्टर—(बाहर से) मैं हूँ डाक्टर कश्यप ?

(महेंद्र कुछ देर सोचता है और फिर दरवाजा खोलता है)

डाक्टर—(प्रवेश करते हुए) मुझे अभी-अभी इन्सपेक्टर नन्दकिशोर से पता चला कि आप आ गए। मेरा तार आपको मिल गया था न ?

महेन्द्र—जी हां, और उसके लिए आपका बहुत-बहुत धन्यवाद ! ज्यों ही आपका तार मिला, मैं चल दिया। कल रात यहां पहुँचा। आइए बैठिए।

(दोनों कुर्सियों पर बैठ जाते हैं।)

डा०—आपके भाई के आकस्मिक निधन का मुझे बड़ा दुःख है, महेन्द्र जी ! बिल्कुल देवता थे।

महेन्द्र—(ठंडी आह भर, रुँधे गले से) डाक्टर साहब, मेरे तो वे पिता-तुल्य थे। आप तो जानते ही हैं, मैं अभी इत्ता-सा था, जब हमारे माता-पिता परलोक सिधार गए थे। भाई साहब ने ही मुझे पाला-पोसा पढ़ाया-लिखाया। आज मैं बिल्कुल अनाथ हूँ। (रोता है)

डा०—रोइए नहीं, महेन्द्रजी, मौत के सामने किसी की पेश नहीं चलती।

महेन्द्र—(आंखें पोंछते हुए) आप ठीक कहते हैं, मौत के सामने किसी

अवश्य सजा हो जायेगी—इस बारे में अभी मैं कुछ नहीं कह सकता—हां, मैं प्रयत्न करूँगा कि आपको पूर्ववत् आर्थिक सहायता मिलती रहे—अच्छा जी, नमस्ते ।

(टैलीफोन का चोंगा यथास्थान रख कर फिर उसी कुर्सी पर आकर बैठ जाता है ।)

महे०—(माथे पर हाथ रख कर ठंडी साँस लेते हुए) कितने महान् थे भैया और कितने उदार ! नगर की कोई ऐसी संस्था नहीं, जिसे उनसे आर्थिक सहायता न मिलती हो । और फिर वे प्राचीन वस्तुओं पर कितना खर्च करते थे । उनकी इस उदारता और कला-प्रेम के कारण ही तो भाभी उनसे नाराज रहती थी, वह प्रायः कहा करती थी कि अपनी इन सनकों में वे अपनी दो-अढ़ाई लाख की जायदाद फूँके डाल रहे हैं ।

डा०—जिरह करने पर यह अनबन वाली बात तो रामू ने भी मानी है । अपने बयान में उसने कहा है कि जब शर्माजी ने महाश्वेता की मूर्ति एक हजार में खरीदी तो पति-पत्नी में कई दिनों तक झगड़ा होता रहा ।

महे०—भाभी को सम्पत्ति का बड़ा ख्याल रहता था । पहले तो उन्होंने मुझे थोड़ा-बहुत दे दिलाकर अलग किया और अन्त में अपने पति को भी....

डा०—तो क्या आप समझते हैं, कमला जी ने सम्पत्ति के खातिर शर्मा जी की हत्या की ।

महे०—समझता नहीं, यही सही बात है । आप जानते ही हैं कि भाभी के कोई बच्चा नहीं हुआ । उसे भय था कि भैय्या कहीं दूसरा विवाह न करले और बड़ी सम्पत्ति का कोई दूसरा उत्तराधिकारी न हो जाए ।

डा०—लेकिन मैं जानता हूँ, शर्मा जी ऐसा कभी न करते ।

महे०—ठीक है, पर वहम का क्या इलाज ! और फिर भैया पुरानी विचित्र वस्तुओं पर और दानादि में जो रुपया खर्चते थे, इससे वह

और भी चिंतित हो उठी थी। महाश्वेता की मूर्ति खरीदे जाने पर उसका रहा-सहा धैर्य जाता रहा और उसने…

डा०—स्त्री इतनी नीचता पर उतर सकती है, इसकी मैंने कभी कल्पना नहीं की थी। सम्पत्ति के लिए पति की हत्या (कुछ देर रुक कर) लेकिन, महेन्द्र जी, एक बात मेरी समझ में नहीं आई। मैं जब भी शर्माजी को देखने के लिए आया, तो मैंने कमला जी को उनकी सेवा-सुश्रूषा में संलग्न पाया। अन्तिम दिन शर्माजी की दशा देखकर वह बहुत चिन्तित थीं। और मृत्यु के समय तो उन्होंने इतना विलाप किया कि जैसे शर्माजी के साथ ही ढेर हो जायेंगी।

महे०—(घृणा से) डाक्टर साहब, इसे ही तो त्रिया-चरित्र कहते हैं। मक्कर करना कोई इन से सीखे !

(टैलीफोन की घंटी बजती है। और महेन्द्र रुक कर चोंगा कान से लगाता है।)

महेन्द्र—(टैलीफोन पर) हैलो ? हां, मैं महेन्द्र बोल रहा हूँ…कौन ? (डाक्टर की ओर देख कर पूरा नाम नहीं लेता और आश्चर्य से) तुम कहां ? रेलवे स्टेशन से बोल रहे हो ? अच्छा, इसी गाड़ी से उतरे हो—भई क्या बताऊँ, तार मिलते ही मैं चल दिया था, तुम्हें सूचित करने का अवसर भी नहीं मिला। हाँ, मैं समझ गया, तुमने अखबार में समाचार पढ़ा होगा—क्या ? वे दोनों जेल में हैं—यहाँ आओगे तो सब बातें होंगी। (डाक्टर टैलीफोन की बातचीत बड़ा चौकन्ना होकर सुनता है) क्या कहा ? मूर्ति ? हां, चले आओ—घर का पता…अरे, हां, तुम्हें तो मालूम है—तो, जल्दी पहुँचो।

(महेन्द्र टैलीफोन का चोंगा रख कर डाक्टर की ओर आता है। वह उठकर जाने लगता है।)

(डाक्टर से) अखबार में भैया की मृत्यु का समाचार पढ़कर हमारे एक सम्बन्धी आए हैं (ठंडी सांस भर कर) भैया की मृत्यु से हर कोई दुःखी है, परन्तु मुझ से अधिक दुःखी कौन होगा; (रुँधते गले से) मैं तो अनाथ हो गया हूँ। पता नहीं भाभी ने पिछले किस जन्म का

हमसे बदला लिया है, जो वंश का सिरमौर मिट्टी में मिला दिया है।

(रूमाल से आंखें पोंछता है)

डा०—महेन्द्र जी, धीरज से काम लीजिए। जो होना था, हो गया, अब रोने से वे लौट तो आयेंगे नहीं। अच्छा मैं चलता हूँ।

महे०—अच्छा।

(महेन्द्र फिर रूमाल से आंखें पोंछता है। डाक्टर उसे शंका की दृष्टि से देखता हुआ जाता है, कुछ देर बाद महेन्द्र दरवाजा अन्दर से बन्द करता है, जेब से दस्ताने निकाल कर पहनता है और महाश्वेता की मूर्ति को उठाकर दूसरे कमरे में चला जाता है।)

पर्दा गिरता है।

तीसरा दृश्य

(पहले और दूसरे दृश्य वाला वही बैठकखाना। रात हो चुकी है। नेपथ्य मे तेज हवा की सायं-सायं सुनाई देती है। बिजली की एक बत्ती के प्रकाश में बैठकखाने की अस्तव्यस्तता रेखांकित-सी दीखती है। बिजली की बत्ती छत के एक ओर लटक रही है। हवा के तेज झोंकों से कभी-कभी वह इधर-उधर हिलने लगती है, जिससे बैठकखाने में रखी हुई मूर्तियों की छायाएं हिल-जुल कर रहस्यात्मक ढंग से सरगोशियां करती-सी जान पड़ती हैं। बाईं ओर का दरवाजा पूर्ववत् अन्दर से बन्द है, जबकि दूसरे कमरे में जाने वाला दाईं ओर का दरवाजा कुछ खुला है और अन्दर से निरन्तर ठकठक का शब्द आ रहा है—जैसे किसी चीज में कीलें ठोंकी जा रही हों। यह शब्द सारे दृश्य में श्मशान की-सी भयाकुलता भर रहा है। बाईं ओर के दरवाजे से जरा हट कर होल-डाल में बँधा हुआ एक बिस्तर, गर्म ओवर कोट, और दूसरा सफरी सामान पड़ा है, जो इस बात का सूचक है कि इस घर में कुछ ही देर पहले कोई मेहमान आया है। जब पर्दा उठता है, तो बैठकखाने में न महेन्द्र है और न नवागंतुक ही। महाश्वेता की मूर्ति भी तख्त पर नहीं। कुछ देर बाद बाईं ओर के दरवाजे को कोई बाहर से खटखटाता है। इस खटखटाहट से लगता है, जैसे बैठकखाने की हर चीज चौंक पड़ी हो। दूसरे कमरे से आ रहा ठकठक का शब्द भी रुक जाता है। कुछ देर बाद महेन्द्र दाईं ओर के दरवाज़े

से आता है। उसने हाथों में दस्ताने पहन रखे हैं, और कुछ भयभीत-सा नजर आता है।)

महे०—(बायें दरवाजे के पास आ कर) कौन ?

(बाहर से आवाज) *मैं हूँ, डाक्टर कश्यप !*

महे०—(खीझ का भाव छिपाते हुए) ओह !

(दरवाजा खोलता है। डाक्टर कश्यप के साथ पुलिस इन्स्पेक्टर नन्दकिशोर का प्रवेश)

डा०—मेरे साथ इन्स्पेक्टर साहब भी आए हैं।

महे०—(दिखावटी शिष्टाचार से) आइये, इन्स्पेक्टर साहब विराजिये !

(डाक्टर और इन्सपेक्टर बिस्तर और ओवरकोट को देखते हुए कुर्सियों पर बैठ जाते हैं और महेन्द्र तख्त से टेक लगाये खड़ा रहता है।)

महे०—रात के समय कैसे कष्ट किया ?

इन्सपे०—आप से कुछ परामर्श करना था। हमारी जांच पूरी हो गई है। कल आपकी भाभी और नौकर की अदालत में पेशी है। आप भी पहुँच जायें। पहले सरकारी गवाह आप ही होंगे।

महे०—(कुछ आश्वस्त-सा होकर) अवश्य पहुँच जाऊँगा, इन्स्पेक्टर साहब।

इन्स्पे०—जरा इस समन पर हस्ताक्षर कर दीजिए। अरे, आपने तो दस्ताने पहन रखे हैं।

महे०—(खिसयाना-सा होकर) ओह, इन्हें उतारने का ख्याल ही नहीं रहा।

(दस्ताना उतारते हुए)

आज मेरे एक सम्बन्धी आए हैं।

डा०—वही न, जिनका शाम को स्टेशन से फोन आया था।

महे०—हाँ, वही। उनके पास दस्तानों की यह एक फालतू जोड़ी थी। *यह देखने के लिये कि दस्ताने मेरे हाथों में ठीक आते हैं या नहीं,* मैंने उठाकर पहन लिए।

डा०—जरा देखूँ तो।

महे०—(झिझकते हुए दस्ताने उतार कर देता है) कोई खास अच्छे नहीं।

डा०—(दस्तानों को उलट-पुलट कर देखते हुए) नहीं साहब, बहुत बढ़िया हैं।

(डाक्टर नाक के पास ले जाकर दस्तानों को सूंघने लगते हैं)

महेन्द्र—(रोक कर) नहीं, सूंघिए नहीं, मेरे हाथों के पसीने की बदबू से भरे हैं।

इन्स्पे०—शायद आपके ये सम्बन्धी किसी पहाड़ी प्रदेश से आये हैं, क्योंकि हमारे यहाँ तो दस्ताने या ओवरकोट पहनने का अभी मौसम शुरू ही नहीं हुआ।

महे०—(हंसते हुए) हां, आपका अनुमान कुछ-कुछ ठीक है।

(तभी दाईं ओर के दरवाजे से एक व्यक्ति लकड़ी का बड़ा-सा बक्स उठाये हुए आता है। शक्ल-सूरत से वह पहाड़ी जान पड़ता है।)

यह हैं मेरे सम्बन्धी भैरवनाथ जी।

भैरवनाथ—(आकर) तो महेन्द्र जी मैं चलता हूँ। गाड़ी छूटने में केवल २० मिनट हैं।

महे०—दो मिनट रुक जाइये, स्टेशन तक मैं आपके साथ चलूँगा।

डा०—शाम को आये और अब चल दिये, भला ऐसी भी क्या जल्दी!

महे०—भैया के स्वर्गवास की खबर सुन कर आये थे···

इ०—तो कल मुकदमे की पेशी देखकर ही जाएँ।

भैरव०—जी तो यही चाहता है, लेकिन कानपुर में कल सवेरे मुझे एक आवश्यक कार्य है। हो सका तो फिर लौट आऊँगा।

इ०—नहीं, मैंने तो वैसे ही कहा था। आप शौक से जाइए। महेन्द्र जी, हम आपका अधिक समय नहीं लेंगे। आपको भी इनके साथ जाने की जल्दी होगी।

महे०—नहीं, नहीं, आप बताइए क्या काम है?

इ०—मैंने बताया न कि कल मुकदमे की सुनवाई शुरू हो रही है।

महे०—हां।

इ०—आपकी भाभी ने अपने बयान में कहा है कि शर्मा जी की हत्या महाश्वेता की मूर्ति ने की है।

महे०—अजी, भाभी की बातों पर न आइए। आप ही बताइए, पत्थर की बेजान मूर्ति भला किसी की हत्या कर सकती है?

डा०—आपका कहना ठीक है। लेकिन...।

इ०—बयान में आपकी भाभी ने जब इस मूर्ति का उल्लेख किया है तो हमें उसे अदालत में पेश करना ही होगा। वैसे भी इस मूर्ति की बहुत चर्चा है। सुना है, स्वर्गीय शर्मा जी उसकी रूप-माधुरी पर इतने लट्टू थे कि एक क्षण के लिए भी इसे आंखों से ओझल नहीं करते थे।

डा०—मैं जब भी उन्हें देखने आया, मूर्ति को उनके हाथों में देखा। अन्तिम सांस तक वे उसी से बातें करते रहे।

इ०—(हँसते हुए) सुना है, वे अपने आपको महाश्वेता का पूर्व-जन्म का प्रेमी पुंडरीक समझने लगे थे।

डा०—मेरा ख्याल है, धीरे-धीरे विष के प्रभाव से वे कुछ पागल-से हो गये थे। उसी पागलपन में वे अपने आपको पुंडरीक समझने लगे थे।

(भैरवनाथ और महेन्द्र कुछ विचलित से नजर आते हैं।)

महे०—हां, आपका अनुमान ठीक है। लेकिन इसके साथ ही मूर्ति की मोहिनी शक्ति से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। पुरानी विचित्र वस्तुओं के पारखी होने के कारण भैय्या उस मूर्ति के गुणों को खूब समझते थे।

इ०—ऐसी मूर्ति के तो अवश्य दर्शन करने चाहिएँ। जरा दिखाइये तो महेन्द्र जी।

महेन्द्र—मूर्ति इस बक्स में बन्द है।

डा०—तो क्या आपके यह सम्बन्धी उस मूर्ति को ले जा रहे हैं?

महे०—हां, यह भी पुरानी विचित्र वस्तुओं में रुचि रखते हैं। यह

उन्हें इतनी पसन्द आई है कि ये हठ-पूर्वक मुझ से खरीद कर ले जा रहे हैं।

इ०—(आश्चर्य से) ले जा रहे हैं?

डा०— (तन कर) देखिए महेन्द्र जी! इस मूर्ति को बेचने का आपको कोई अधिकार नहीं। अभी तक इस सारी सम्पत्ति की वारिस आपकी मामी कमला है। आप तो मौरूसी जायदाद से अपना हिस्सा लेकर अलग हो चुके हैं।

महे०—(हकलाते हुए) यह आप······?

इ०—हां, जब तक मुकद्दमे का फैसला नहीं हो जाता और आपकी मामी को सजा नहीं हो जाती, उनकी अनुपस्थिति में आप इस घर की किसी भी चीज को इधर-उधर नहीं कर सकते और फिर इस मूर्ति का तो केस से भी सम्बन्ध है। आप इसे कैसे किसी और को दे सकते हैं?

भैरव०—(घबराहट से उठते हुए) महेन्द्रजी, मुझे यह मूर्ति नहीं चाहिए, मैं इसे छोड़े जाता हूँ। गाड़ी छूटने में थोड़ा ही समय रह गया है। मैं चलता हूँ।

(बिस्तर और ओवरकोट उठा कर जाने का उपक्रम करता है। किसी गुप्त भय से उसके हाथ कांप रहे हैं। तभी उसके ओवरकोट से एक कागज नीचे गिरता है)

महे०—(जल्दी से उठ कर) चलिए, मैं आपको तांगे में चढ़ा आऊँ।

(उसी समय डाक्टर नीचे गिरे कागज को जल्दी से उठा कर पढ़ता है। महेन्द्र जल्दी से उसे छीन कर मुँह में डाल लेता है। भैरवनाथ दरवाजे की ओर बढ़ता है। तभी पुलिस इंसपेक्टर स्थिति को भांपते हुए रिवाल्वर तान कर दरवाजे के आगे खड़ा हो जाता है)

इ०—ठहरो! तुम दोनों में से कोई भी यहां से नहीं जा सकता।

(भैरवनाथ फुर्ती से एक फूलदान उठा कर बिजली के बल्ब पर मारता है और अंधेरा हो जाता है। उसके साथ ही पुलिस इंसपेक्टर गोली दागता है। अंधकार में किसी के गिरने, गुत्थम-गुत्था होने, चीजें फेंकने और भागने का कोलाहल सुनाई देता है।)

इ०—डाक्टर, बैटरी जलाओ ! महेन्द्र शायद भाग गया । लेकिन भाग कर कहां जायेगा ? मकान को हथियारबन्द सिपाहियों ने घेर रखा है ।

(स्टेज पर बैटरी का प्रकाश होता है । बैटरी डाक्टर के हाथ में है ।)

[बैटरी के प्रकाश में बैठकखाने की कुर्सियाँ और तिपाइयाँ इधर-उधर गिरी टूटी हुई दिखाई देती हैं । स्टेज के बीचोंबीच लकड़ी का बक्स टूटा पड़ा हैं और महाश्वेता की मूर्ति मुक्त होकर सव्यंग मुस्कराती-सी जान पड़ती है । महेन्द्र गायब हैं लेकिन भैरवनाथ बाईं ओर के दरवाजे के पास लहूलुहान लुढ़का पड़ा हैं, अचेतावस्था में ।]

डा०—[भैरवनाथ पर बैटरी का प्रकाश डालते हुए] भैरवनाथ तो यहां लुढ़का पड़ा है ।

इ०—[अपने माथे पर रुमाल रखते हुए···शायद वहाँ चोट लगी है] यह तो शायद खत्म होगया ।

डा०—[नब्ज और घाव को देखते हुए] घाव काफी गहरा है, परन्तु अभी मरा नहीं, शायद होश में आजाए ।

इ०—डाक्टर साहब, उस कागज पर क्या लिखा था ?

डा०—बहुत बड़ा रहस्य । इन दोनों का सुधारक शर्मा की हत्या से गहरा सम्बन्ध जान पड़ता है । षड़यन्त्र में वह मूर्ति भी शामिल है ।

इ०—यह तो मेरा भी ख्याल है । आज शाम को जब आपने मुझे यह बताया कि महेन्द्र का कोई सम्बन्धी स्टेशन से फोन करके मूर्ति के बारे में पूछ रहा था, तभी मेरा माथा ठनका था । [रुककर] शायद कोई सिपाही आ रहा है । आप तब तक इस भैरवनाथ को देखिए ।

[एक सिपाही आकर एड़ियाँ टकरा कर सेल्यूट करता है]

इ०—क्यों शेरसिंह, पकड़ लिया महेन्द्र को ?

सिपाही—हां, हजूर ! अब क्या आज्ञा है ?

इ०—उसे पूरी चौकसी के साथ कोतवाली ले जाकर हवालात में बन्द करदो । मैं अभी आता हूँ ।

[सिपाही जाने लगता है]

और सुनो, चार सिपाही अभी यहीं रहें और एक गाड़ी भी, शायद इसे [भैरवनाथ की ओर संकेत करते हुए] लाद कर ले जाना पड़े।

सिपा०—बहुत अच्छा।

[सिपाही सैल्यूट करके उलटे पांव जाता है]

इ०—हां, तो डाक्टर साहब, क्या लिखा था, उस कागज पर ?

डा०—यह महेन्द्र और भैरवनाथ के बीच एक प्रकार का इकरारनामा था। स्मरण रहे, यह भैरवनाथ महेन्द्र का सम्बन्धी नहीं है।

इ०—हां, यह तो इसकी शक्ल से ही प्रकट होता है। लेकिन है यह दार्जिलिंग का रहने वाला।

डा०—हां। महेन्द्र ने झूठ ही कहा था कि मैंने यह मूर्ति इसके हाथ बेच दी। उलटा वह इसका देनदार है। इकरारनामे पर दार्जिलिंग का पता है और तारीख कोई एक महीना पहले की है। महेन्द्र ने इससे वायदा किया था कि काम पूरा होने पर वह उसे ५०००) देगा, और साथ ही यह मूर्ति देगा।

इ०—अच्छा, गोया यह मूर्ति इसी भैरवनाथ की है !

भैरव०—[होश में आकर दुर्बल स्वर में कराहते हुए] हां, यह मूर्ति मेरी ही है। मरते समय मैं झूठ नहीं बोलूँगा।

[इन्स्पेक्टर और डाक्टर जल्दी से उसके समीप पहुँचते हैं। बैटरी का प्रकाश उस पर पड़ता है]

डा०—इन्स्पेक्टर साहब, लिखिए इसका बयान। कहो क्या कह रहे थे ?

भैरव०—[पूर्ववत् रुक-रुक कर] हां, यह मूर्ति मेरी ही है। मैं ही एक मास पूर्व पुरानी विचित्र वस्तुओं के सौदागर के रूप में आकर इसे यहां बेच गया था। मैंने पांच हजार रुपये के लोभ में पड़कर बहुत बड़ा पाप किया था, उसी का आज मुझे यह फल मिला है। महेन्द्र अपने भाई और भाभी को मार कर इस विशाल सम्पत्ति का स्वामी बनना चाहता था। इस उद्देश्य से उसने एक बड़ी गहरी चाल चली थी। उसे मालूम था कि उसका भाई पुरानी विचित्र वस्तुओं का शौकीन है। सो

उसने मेरे हाथ यह मूर्ति उन्हें भेजी।

डा०—[जल्दी से] तो क्या…?

भैरव०—[पूर्ववत् कराहते हुए रुक-रुक कर] मैं सब बताता हूँ। बिना बताए मैं शान्तिपूर्वक नहीं मर सकूँगा। मैं अब कोई दम का मेहमान हूँ। सुधाकर शर्मा की हत्या उनकी पत्नी कमला ने नहीं, इस मूर्ति ने की है [मूर्ति की ओर संकेत करते हुए] यह मूर्ति तेज संखिये से····

[मर जाता है]

इ०—[चौंक कर] क्या यह मूर्ति तेज संखिये से पुती हुई है?

[बैटरी का प्रकाश मूर्ति पर पड़ता है।]

डा०—दस्तानों से मुझे भी यही सन्देह हुआ था। यह महाश्वेता नहीं, विषकन्या है।

डा०—कितनी घातक है इसके रूप की ज्वाला, जो युग-युग से अपने प्रेमियों की बलि लिए जा रही है!

[मूर्ति सव्यंग्य मुस्कराती-सी जान पड़ती है।]

[पर्दा गिरता है]

समाप्त

९

विष-वृक्ष

(श्री देवदत्त 'अटल')

पात्र-परिचय

शिब्बन — एक मजदूर
रहमत — एक किसान
रजिया — रहमत की पत्नी
नवागन्तुक —

स्थान — नगर का बाहरी भाग
समय—सूर्योदय

[रहमत किसान का कच्चा कोठा, उसके चारों ओर कच्ची दीवार है। चार-दीवारी में दो बैल बंधे हैं। रहमत ज्वर-पीड़ित है। ज्वर के प्रकोप से उद्विग्न हो उठता है।

कोठे में तीन चारपाइयां हैं। एक पर रहमत पड़ा है, दूसरी पर शिब्बन सो रहा है। एक दीवार के सहारे खड़ी हुई है।

रहमत की पत्नी कहीं बाहर गई है।)

शिब्बन—[मिल-मजदूर, क्षीण शरीर पर गंजी, मैली धोती, रंग सांवला, उम्र बीस वर्ष के लगभग है।) रहमत ! [जागते हुए] रहमत भाई ! अरे बोलो भी न ?

रहमत—[गरीब किसान, शरीर पर मैला कुर्ता, उसने चद्दर बांध रखी है। रंग गन्दमी, उम्र तीस के लगभग है] मुझे ज्वर आ रहा है भाई !

(कराहता है)

शिब्बन—ज्वर, मुझे कहा क्यों नहीं, कोई दवा-दारू का प्रबन्ध करता।

रहमत—तुम थके-माँदे तो आते ही हो।

शिव्वन—थकना तो मजदूर के जीवन का भाग है। तारों की छाया में जाना, तारों की छाया में आना। मजदूर कोल्हू का बैल है। लेकिन तुम्हारे सिर तो अवकाश भी ले सकता था। रोगी को दवा-दारू तो करनी पड़ती है।

रहमत—दवा-दारू, (उपेक्षा भाव से) दवा मिलती कहाँ है! बढ़िया-बढ़िया औषधियां तो चोर-मण्डी में चली जाती हैं।

शिव्वन—सरकारी चिकित्सालय का डाक्टर भी तो औषधियां चोर-मण्डी में बेचता है। मरीजों को तो निरा पानी ही मिलता है।

रहमत—सब जगह अन्धेर है। हम किसान संसार के अन्नदाता, हमें भी अन्न नहीं, कपड़ा नहीं—यह महायुद्ध नहीं महाकाल है। मंहगाई ने आग लगा दी है।

शिव्वन—मौत तो सस्ती है? युद्ध और भूख दोनों मौत के देवता हैं।

रहमत—वास्तव में भूख रोगों की जननी है। भूखा-पेट रोगों का घर है। (कुछ क्षण चुपचाप रहता है) मेरा मुँह कड़ुवा हो रहा है।

शिव्वन—(उठता है) अभी दवाई लाता हूँ। (शिव्वन शीशी लेकर बाहर जाने लगता है)

रहमत—जाने से पहले बैलों को घास पानी डाल दो। बेजबान रात से भूखे हैं। अभिशाप देते होंगे। (शिव्वन बैलों की ओर जाता है। वे उसे आशाभरी दृष्टि से देखते हैं)

शिव्वन—रहमत! मैं जा रहा हूँ।

(शिव्वन बैलों को पानी पिलाता है, घास डालकर चला जाता है)

[पर्दा गिरता है]

रहमत—(ज्वर के प्रकोप से बड़बड़ाते हुए) ज्वर! भीषण शीत! (आंखें बन्द करता है) सारा शरीर आग की भांति जल रहा है।

शीत ! तपन ! सिर फटा जा रहा है। (सिर दबाता है) संसार चक्की की भाँति घूम रहा है। मौत ! जीवन ! यह स्वर्ग ! नरक है नरक ! कौन आ रहा है ? यमराज ! कितना भयानक (चीखता है) बचाओ ! बचाओ ! (शिव्वन दवाई की शीशी लिए आता है)

शिव्वन—रहमत ! रहमत ! (रहमत को हिलाता है) होश करो।

(सिर पर हाथ फेरता है)

रहमत—कौन ? कौन ? न, न मुझे मत ले जाओ।

(हाथों के स्पर्श से आंखें खोलता है)

शिव्वन ! तुम ! मैं स्वप्न देख रहा था।

शिव्वन—लो, दवाई।

(रहमत को सहारा देकर उठाता है। दवाई पिलाता है।)

अब तुम्हें आराम हो जायेगा। बहुत बढ़िया औषधी है।

रहमत—(मुँह बना कर) कड़वी है कड़वी ! थू ! थू !

(थूकता है)

शिव्वन—शरीर का ताप कड़वी औषधी से मिटता है।

(रहमत लेट जाता है। ज्वर का प्रकोप बढ़ता है। शरीर पसीना-पसीना हो जाता है। ज्वर का प्रकोप कुछ हलका होता है।)

रहमत— अब शरीर हलका हो गया है।

(अपने मुँह से रजाई हटाता है।)

शिव्वन—पड़े रहो ! पड़े रहो !

(सहसा नवागन्तुक कमरे में प्रवेश करता है। वह वेश-भूषा से विदेशी ज्ञान पड़ता है।)

नवागन्तुक—(द्वार से) मैं आ सकता हूँ।

शिव्वन—(उठ कर स्वागत करता है) आइए ! आइए !

रहमत—(बिस्तर से) आ जाइए !

नवागन्तुक—धन्यवाद, (बैठ जाता है। कन्धे से थैला उतार कर पृथ्वी पर रख देता है)

मैं संसार का पर्यटक हूं। मार्ग भूलने से इधर आ निकला।

शिब्बन—कोई चिन्ता नहीं, विश्राम कीजिए।

नवागन्तुक—(कोठे के चारों ओर एक दृष्टिपात करते हुए) आप दोनों एक ही भवन में रहते हैं। लेकिन आप... आप तो मुसलमान हैं!

(रहमत की ओर संकेत करता है)

और आप (शिब्बन की ओर संकेत करते हुए] हिन्दू जान पड़ते हैं।

रहमत—हम दोनों, हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद-भाव नहीं।

नवागन्तुक—(कृत्रिम भाव से) अच्छी बात है, अच्छी बात! सब को मेल-मिलाप से रहना चाहिए।

शिब्बन—(उठते हुए) मेल-मिलाप तो जीवन ही है। (बाहर चला जाता है)

नवागन्तुक—पर हिन्दू तो छूआछूत मानते हैं।

रहमत—मानते होंगे लेकिन यह.........

(शिब्बन लौट आता है)

शिब्बन! मुझे बाहर जाना है।

शिब्बन—(कम्बल उठा कर) यह लपेट लेना। हवा न लग जाए।

(शिब्बन सहारा देकर उठाता है और कम्बल उढ़ाता है। रहमत धीरे-धीरे बाहर चला जाता है)

नवागन्तुक—(शिब्बन से) यह मुसलमान और तुम हिन्दू!

शिब्बन—मनुष्य मनुष्य में भेद कैसा?

नवागन्तुक—(कुछ संकोच से) रहमत तो हिन्दू-मुसलमान में भेद समझता है वह तुम्हें (बात बनाते हुए) कोई बात नहीं (बहाने से छिपाते हुए) वह बीमार है।

(रहमत लौट आता है)

शिब्बन—[रोष से] तुम क्षण भर तो विश्राम नहीं करते।

रहमत—सारा दिन तो चारपाई से लगा रहता हूँ।

शिव्वन—बीमारी में ऐसा ही होता है। तुम बोलो नहीं, विश्राम करो।

रहमत—[खीझकर] तुम सदा उपदेश ही देते हो!

शिव्वन—मैं.........[खीझता हुआ बाहर जाता है]

नवागन्तुक—शिव्वन अभिमानी है (रुकते-रुकते) कहता था मुसलमान को छूने से स्नान करना पड़ता है।

रहमत—(आवेश में) हिन्दू-धर्म छुई-मुई की बेल है जो तनिक छूने से मुरझा जाता है।

नवागन्तुक—यह किरायेदार है। तुम......

रहमत—किराया-विराया कुछ नहीं, वैसे ही रहता है।

नवागन्तुक—बिना किराये रहता है? अरे! वह तो दस रुपये बोलता है।

रहमत—(आवेश में) झूठ! सर्वथा झूठ!

[शिव्वन आता है। दोनों चुप हो जाते हैं]

शिव्वन—रहमत भाई! दवाई ले लो।

रहमत—[क्रोध को दबाते हुए] मुझे दवाई पिलाओगे तो स्नान करना पड़ेगा।

शिव्वन—स्नान.........।

[नवागन्तुक उठ कर बाहर जाता है उसकी मुखमुद्रा प्रसन्न है]

रहमत—मुसलमान को छूने से तुम्हें स्नान करना पड़ता है।

शिव्वन—कौन कहता है?

रहमत—[आवेश में) मैं कहता हूँ। (खीझ कर) झूठ-मूठ किरायेदार बनते हो।

शिव्वन—तुम्हें किसीने बहका दिया है।

रहमत—कौन? कौन? मुझे कौन बहका सकता है?

शिव्वन—(उग्र होकर) तुम कान के कच्चे हो। झूठी बातों पर

विश्वास करना तुम्हारा स्वभाव है। अब—(सहसा रहमत की पत्नी का प्रवेश वह अपनी हाथ की पोटली को टांगती हुई)

रजिया—(मझला कद, गोरा रँग, कानों में बालियां, कुर्ते के साथ घांघरा)

ओहो ! आप बीमार हैं। अरे ! शिब्बन भैय्या ! तुम (आंखों की ओर संकेत करती हुई) तुम्हारी आँखों में लाली क्यों है ? क्या रोते रहे हो ? (इधर-उधर देखते हुए) यह थैला किसका है ! मैं मायके क्या गई, सब तरफ आफत ही बखेर रखी है !

शिब्बन—यह जादू का थैला है भाभी ! इसी के पुण्य-प्रताप से तो हम एक-दूसरे का सिर फोड़ने चले हैं।

रहमत—(सोच में पड़ता है) नहीं, नहीं।

शिब्बन—मुंह के गोरे दिल के काले। फूट का 'विष-वृक्ष:' बोने वाला तो फिरंगी है। रहमत ! वह हम दोनों को लड़ा कर अपना उल्लू सीधा करना चाहता है।

रजिया—तो क्या फिरंगी आ घुसा ?

शिब्बन—हाँ, भाभी तुम न आती तो.........हमारी लाशें ही.........।

रजिया—कहाँ है ? आए, मैं अभी झाड़ू लेकर भगाती हूँ।

(नवागन्तुक का प्रवेश। रजिया सिर से पैर तक उसे देखती हैं)

आप घूर-घूर कर मेरी तरफ क्यों देख रहे हैं ?

नवागन्तुक—मैं,...आप.........

रजिया—आप...आप झगड़ा उठाएं और चलते बनें।

नवागन्तुक—पागल ! नान सेंस !

रहमत—जाओ ! गाली निकाली तो.........।

रजिया—(झाड़ू उठा कर) जाते हो या......

(झाड़ू दिखाती है)

शिब्बन—तुम्हारी दाल नहीं गली, नहीं तो तुमने आग तो लगा ही दी थी।

नवागन्तुक —तुम ! तुम ! वागी हो ।

(हाथों के संकेत से हथकड़ियों का भाव जताता है ।)

रहमत-शिब्बन —(दोनों क्रोधाभिभूत होकर फिरंगी की ओर झपटते हैं ! वह अपना झोला लेकर भागता है)

रजिया —शीरनी बाँटो । यह विष-वृक्ष का काँटा था ।

(रजिया हंसती है । दोपहर की चिलचिलाती धूप में फिरंगी दूर भागता दीख पड़ता है । रहमत अपने-आपको संभालते हुए शिब्बन का हाथ थामता है)

पटाक्षेप

भूमिजा

(श्रीमती रजनी पनिकर)

पात्र-परिचय

जनक—मिथिला के महाराज, सीता के पिता ।

शतानंद—महाराज जनक के मन्त्री ।

विश्वामित्र—एक मुनि, श्री राम के गुरु ।

राम—अयोध्या के महाराजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र, फिर अयोध्या के राजा ।

लक्ष्मण—राम के छोटे भाई ।

वाल्मीकि—एक ऋषि, जिनके पास सीता निर्वासित होने पर आश्रय पाती है, और वह उसके दोनों पुत्रों का पालनकरते हैं ।

लव-कुश—राम और सीता के पुत्र ।

सीता—श्री महाराज जनक की पुत्री, राम की पत्नी ।

ऋषिगण, प्रजागण आदि तथा सखियाँ आदि ।

पहला दृश्य

(हमारी आर्य संस्कृति और सभ्यता की संरक्षिका भूमिजा की जन्म-भूमि पूत नगरी मिथिला थी । मिथिला के महान् धर्म-शासक निमि थे । कालान्तर में इसी निमि-वंश में परम प्रतापी धर्मपरायण राजा जनक हुए । जनक राजर्षि और कर्मयोगी थे । परन्तु उनके शासन-काल में असुरों और राक्षसों का अत्याचार बढ़ा । हमारी माँ-भूमि विपन्न हुई । मिथिला में भी भयानक दुर्भिक्ष पड़ा । प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही थी । राजर्षि जनक अपनी पुत्रवत् प्यारी प्रजा और अपनी भूमि के लिए, शस्य-श्यामला वसुन्धरा के लिये चिन्तित और किंकर्तव्यविमूढ़ रहते । एक दिन वह महाराज जनक अपने दरबार में बैठे थे ।)

जनक—(अपने-आप से बात कर रहे हैं) देवगण ! कौन-सा पाप मुझसे हो गया है जिसका दंड मेरी प्रजा को भुगतना पड़ रहा है ? मेघराज इन्द्र इस भूमि पर जलवृष्टि करके तुम मेरी प्रजा के ताप को हरो। पृथ्वी के देवता विष्णु भूमि को उर्वरा बनाओ। (राज सभा में—कुछ कोलाहल; ऋषियों का प्रवेश। दूर से ही) शतानु हो...(एक लम्बी आवाज में)

शतानन्द—महाराज यह ऋषिगण आपको अपना आशीर्वाद देने के लिये पधारे हैं।

जनक—दास जनक का ऋषियों को सविनय प्रणाम स्वीकार हो।

एक ऋषि—आयुष्मान् हो राजन् ! हम लोग प्रजा की पुकार लेकर राजा-श्रीगण में उपस्थित हुए हैं।

दूसरा ऋ०—राजर्षि अनावृष्टि के कारण प्रजा में हाहाकार मच गया है। वृक्ष, लताएं, नदी, सरोवर सब सूख गये हैं। प्रकृति निर्जीव हो रही है।

जनक—मैं जानता हूँ देवगण मुझ से रुष्ट हैं। मैं इस समय इन्हीं से प्रार्थना कर रहा हूँ।

एक ऋषि—राजन् ! इस दुर्भिक्ष का एक निदान है, केवल यज्ञ। यज्ञ से प्रत्येक संकट दूर हो जायेगा।

जनक—ऋषियों की आज्ञा शिरोधार्य है। शतानन्द यज्ञ का प्रबन्ध करो !

दूसरा ऋ०—महाराज यज्ञ का प्रबन्ध आप स्वयं करेंगे। उस यज्ञ-भूमि को हल द्वारा परिष्कृत करना होगा। आप भूपति हैं, भूमि आप की सेवा चाहती है।

जनक—जैसी आपकी आज्ञा।

(नेपथ्य में धीमे-धीमे लय का संगीत। परदा गिरता है)

दूसरा दृश्य

(महाराज जनक अपने मन्त्री शतानन्द के साथ खेत में हल चला रहे हैं। कुछ प्रजा गण पास खड़े हैं।)

शता०—महाराज थक गए होंगे। राजर्षि के विशाल ललाट पर श्रम-बिन्दु मोतियों की भाँति एकत्र हो रहे हैं। हल आप सेवक को दे दें और कुछ समय विश्राम कर लें।

जनक—मंत्रिवर! ऋषियों का कहना है केवल मेरे हल चलाने से ही कल्याण होगा।

शता०—महाराज अनावृष्टि के कारण सूखी हुई और कठोर भूमि को तोड़ते-तोड़ते आप को इतना समय लग गया, थोड़ा विश्राम कीजिए।

जनक—नहीं मंत्रिवर! यज्ञ-भूमि को मुझे आज संध्या तक ही परिष्कृत कर देना है। (भूमि फट जाती है) मंत्रिवर! यह रुदन कैसा? अरे यह तो छोटा-सा बच्चा है! (मेघ गर्जन और वर्षा। जनता और दर्शकों का कोलाहल)

प्रजागण १—देवगण प्रसन्न हो गए।

प्रजा० २—महाराज का यज्ञ सफल हुआ।

प्रजा० ३—रत्नगर्भा वसुन्धरा लहलहा उठेगी।

तीनों—इन्द्र देव अपना वरदान अमृत बरसाओ, हम तुम्हारा स्वागत करते हैं!

(वर्षा होने लगती है। मन्त्री शतानन्द बच्ची को ऊपर उठाते हैं।)

जनक—मंत्रिवर यह प्रभु का वरदान है। भूमि, माँ-वसुन्धरा का आशीर्वाद है। यह ज्योत्स्ना-सी सुकुमार, भावना-सी कोमल और स्मिति-सी मधुर बालिका प्रगट हुई है।

शता०—महाराज इस कन्या को भूमिजा नाम दीजिए।

जनक—मंत्रिवर आपका कथन उचित है। भूमिजा, मेरी बच्ची हल की नोक से उत्पन्न हुई है। इसे सीता कहेंगे। मंत्रिवर हम महारानी को तुरन्त उनकी पुत्री सौंपना चाहते हैं।

शता०—आइए महाराज, मैं मार्ग दिखाता हूँ।

(पर्दा गिरता है)

तीसरा दृश्य

(सुकवि की अभिव्यंजना तथा शुक्लपक्ष की चन्द्रकिरण के समान उत्तरोत्तर रूप, शील और वय में बढ़ कर भूमिजा विवाह के योग्य हुई । देव-दुर्लभ गुणों से विभूषित भूमिजा के परिणय की चिन्ता राजर्षि जनक को चिन्तित रखने लगी । भूमिजा के कुल, शील, विद्या और वय के अनुरूप कोई वर न मिला । उन्होंने एक स्वयंवर का आयोजन किया । महादेव शंकर का धनुष जनक के पूर्व पुरुष निमि के पुत्र मिथि के पास धरोहर रूप में सुरक्षित था । महाराज जनक ने संकल्प किया कि जो वीर इस धनुष पर शर-संधान करने का साहस करे वही भूमिजा के पाणिग्रहण का अधिकारी होगा । महाराज जनक अपने दरबार में बैठे हैं, मंत्री शतानन्द उनके पास हैं ।)

जनक—मंत्रिवर क्या समाचार है ?

शता०—क्या बताऊँ महाराज !

जनक—मैं स्वयं बहुत चिन्तित हूँ मन्त्रिवर ! निमंत्रण तो दूर-दूर तक चला गया था न ?

शता०—महाराज मगध, नरेश अंग नरेश, विदर्भ नरेश, कलिंग नरेश, लंका नरेश, और समस्त द्वीपों के प्रसिद्ध महाराज आये हैं।

जनक—तो क्या उन लोगों से भी धनुष पर शर-संधान नहीं हो सका ?

शता०—नहीं महाराज ।

जनक—यह तो बड़ी चिन्ता की बात है ।

शता०—आप का संकल्प भी तो बड़ा··· ।

जनक—मंत्रिवर शतानन्द, भूमि की पुत्री सीता का वरण वही कर सकता है जिसके हाथों में असीम बल हो । राक्षसों और असुरों से ताड़ित पृथ्वी की जो रक्षा कर सके । इसीलिये मैंने यह संकल्प किया है । महादेव शंकर के धनुष पर जो शर नहीं चढ़ा सकता वह सीता का वर होने के योग्य नहीं ।

शता०—महाराज सत्य कहते हैं। सीता का जन्म भी तो उस कलश से हुआ है जिसको असुरों ने ऋषियों-मुनियों की रक्त-बूंदों से भरा था।

जनक—इसीलिये सीता का वरण भी वही करेगा जो इसके पितरों का ऋण चुका सकता है। (धीरे स्वर में) लेकिन शतानन्द इतना समय देश भर के समस्त भूपति इस धनुप पर शर-संधान करने में असफल रहे। क्या सीता कुँवारी रहेगी !

(विश्वामित्र की आवाज दूर से होती है। और वह प्रवेश करते हैं)

विश्वा०—नहीं विदेह, तुम अपनी चिन्ता त्यागो। सीता का वरण करने वाला महापुरुष इस पृथ्वी पर है।

जनक—प्रणाम मुनविर ! मेरे बड़े भाग्य कि परम तपस्वी धीर और गम्भीर देवताओं के समकक्ष राजर्षि विश्वामित्र के पूज्य चरणों ने इस अकिंचन के गृह को पवित्र किया है। जनक राजर्षि विश्वामित्र का स्वागत करता है।

विश्वा०—मैं बहुत प्रसन्न हुआ विदेह ....सफल मनोरथ हों।

जनक—आपके दर्शनों से ही मेरी सारी चिन्ता और मनोव्यथा दूर हो गई। आश्रम में तो सब कुशल हैं न ?

विश्वा०—ताड़का, खरदूपण और सुबाहु के विनाश से अब मैं बहुत निश्चिन्त हूँ।

जनक—बड़ा शुभ समाचार आज सुना है। पूरा वृत्तान्त जानने के लिये मन व्याकुल हो रहा है।

विश्वा०—राजर्षि आप ने सुना ही होगा—इन राक्षसों के अत्याचार से आश्रम के कार्य, यज्ञ, जप-तप आदि में बड़ी बाधा पड़ रही थी। मैंने अयोध्या-नरेश दशरथ से उनके दो पुत्र राम और लक्ष्मण को आश्रन की रक्षा के लिये माँगा। महाराज दशरथ ने बड़ी भक्ति से इन राजकुमारों को मेरे साथ राक्षसों का वध करने के लिए भेज दिया।

जनक—तो इन राजकुमारों ने राक्षसों का वध..........

विश्वा०—इसमें आश्चर्य की बात क्या है ! ये राजकुमार साधारण युवक नहीं है। आश्रम में आते हुए उन्हें ताड़का राक्षसी मिली, बड़े वेग

से वृक्षों को रौंदती हुई, प्रेतों के परिधान पहिने हुए, बवंडर का आकार बनती हुई ताड़का को देखकर राम ने स्त्री को मारने की घृणा और बाण दोनों एक साथ छोड़े। पत्थर की चट्टान-सी ताड़का की छाती में राम के उस बाण ने एक गहरा छिद्र बना दिया।

जनक—बड़े शूरवीर हैं ये राजकुमार!

विश्वा०—विदेह! इनके पराक्रम और वीरता का वृत्तान्त कहां तक सुनाऊँ, दोनों भाइयों ने आश्रमवासियों तथा यज्ञ करने वाले ऋषियों के विघ्न उसी प्रकार दूर कर दिये जैसे सूर्य और चन्द्रमा क्रमशः पृथ्वी का अन्धकार हरण करते हैं।

जनक—(*कुछ सोचते हुए*) अच्छा! तब तो वास्तव में बड़े पराक्रमशाली हैं ये राजकुमार!

विश्वा०—विदेह! मैं आपकी चिन्ता को हरण करने के लिये इन राजकुमारों को अपने साथ लाया हूँ। मेरे विचार में सीता के योग्य इनसे बढ़कर और कोई वर नहीं है।

जनक—कहां हैं वे राजकुमार! मैं इनके दर्शनों से अपने नेत्र सफल करना चाहता हूँ।

विश्वा०—महाराज वह दोनों राजकुमार जनकपुरी की शोभा देखने गए हैं। जैसे वज्र की शक्ति की परीक्षा पर्वत पर होती है वैसे ही इन राजकुमारों की शक्ति की परीक्षा धनुष पर की जायेगी। परन्तु सभी सभागत राजाओं-महाराजाओं के निराश हो जाने पर।

चतुर्थ दृश्य

(राजकुमार राम और साथ में अनुज लक्ष्मण जनकपुरी की शोभा देखने गये और दोनों भाई अपने वर्ण के अनुकूल चन्दन का तिलक लगाये हुए थे। उनके कानों में सोने के कर्णफूल अद्भुत शोभा दे रहे थे। इधर भूमिजा अपनी सखियों के साथ गिरिजा-पूजन के लिये जा रही थीं। सखियां फूल चुनने उपवन में आईं, सीता जरा अलग हटकर खड़ी है।)

एक सखी—ये कौन राजकुमार हैं! इनकी छवि के सन्मुख करोड़ों कामदेवों की छवि भी लज्जित हो जाएगी। देवता, मनुष्य, असुर, नाग और मुनियों में भी ऐसी शोभा सुनने में नहीं आई!

दूसरी—तुम सत्य कह रही हो। भगवान् विष्णु की चार भुजायें हैं, ब्रह्मा जी के चार मुख हैं, शिव का वेष भयानक है तो किस देव की छवि से इनकी उपमा दी जाये। यदि राजा इन्हें देख पायें तो अपनी प्रतिज्ञा त्याग कर इनसे सखी भूमिजा का परिणय निश्चित करें।

पहली सखी—चलो राजकुमारी को भी लिवा लाएँ। (सखियाँ उस वन के उस ओर जाती हैं जहाँ सीता खड़ी है)

सीता—सखी क्या बात है? तुम्हारी देह बड़ी पुलकित लग रही है। नेत्रों में बड़ा हर्ष भरा हुआ है?

पहली—क्या बताऊँ, राजकुमारी, ये राजकुमार उपवन देखने आये हैं, किशोर अवस्था के हैं, साँवले और गोरे। उनके सौन्दर्य को शब्दों में कैसे बाँधूँ! बस देखते ही बनता है!

दूसरी—सच कह रही हो। जिस समय दोनों भाई कुञ्ज में से निकले तो यूँ लग रहे थे जैसे चन्द्रमा जलदपटल में से निकल रहा हो। टेढ़ी भौंहें, घुँघराले बाल, रतनारे नेत्र, सुन्दर ग्रीवा, क्या-क्या बताऊँ!

सीता—कौन हैं वे!

दूसरी—वही राजकुमार होंगे जो मुनि विश्वामित्र के साथ आये हैं। नगर के समस्त स्त्री-पुरुषों पर उन्होंने अपने रूप का जादू-सा चला दिया है। आओ चलें।

सीता—मैं...मैं...भी चलूँ?

दूसरी—अवश्य राजकुमारी, गिरिजा का ध्यान मन में करती चलो। (सीता के चलने से नूपुर की ध्वनि होती है।)

राम—लक्ष्मण सुन रहे हो कैसी ध्वनि आ रही है! लगता है स्वर-लय एक हो गये हों। कहीं विश्व को जीतने के लिये कामदेव के संकल्प का स्वर तो नहीं है?

लक्ष्मण—हां, महाराज! वे कौन रूप की राशि दिखलाई पड़ रही हैं?

राम—(स्वगत) इतना सौन्दर्य! इतना आकर्षण! ऐसा

लावण्य मानो सौन्दर्य के भवन में दीपशिखा हो। (प्रकट) यह जनक-नन्दनी होगी जिनके लिये धनुप-यज्ञ हो रहा है। सखियों के साथ यह गौरी-पूजन के लिये तो नहीं आई है?

लक्ष्मण—हो सकता है महाराज !

राम—नहीं, निश्चय मानो। इनका मोहक सौन्दर्य देखकर मेरा मन विचलित हो रहा है। यह सब कारण तो विधाता जानें। परन्तु मेरे दक्षिण अंग फड़क रहे हैं। आओ चलो उधर चलें ?

सीता—सखी वह (कांपकर) राजकुमार कहाँ चले गये ?

सखी—(हँसती हुई) अनिमिष होकर तुम निरख रहीं थीं राज-कुमारी, मैं क्या जानूँ !

दूसरी—अरे राजकुमारी की आँखें मुँदी जा रही हैं, यह इतनी शिथिल क्यों हो गई ?

पहली—तुम अनुभव नहीं कर रही हो सखी, इन्होंने आँखों के मार्ग से राजकुमार को हृदय में प्रतिष्ठापित करके पलकों के आवरण लगा दिये हैं।

पंचम दृश्य

(महाराज जनक का दरबार। ऋषि विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को लेकर उनके पास पहुंचते हैं।)

विश्वा०—राजन्, यह हैं राम और उनके छोटे भाई लक्ष्मण।

राम-लक्ष्मण—राजर्षि हमारा चरण स्पर्श स्वीकार करें !

जनक—(हर्षित स्वर में जरा काँपते हुए) वत्स, चिरंजीव रहो !

विश्वा०—मिथिलेश, धनुप पर शर-संधान के लिये यह राजकुमार आपकी आज्ञा चाहते हैं।

जनक—मुनिवर, परन्तु ?

विश्वा०—परन्तु क्या राजन् ?

जनक—ये कितने कोमल हैं और धनुप कैसा कठोर ? मेरे संकल्प को सुनकर द्वीप-द्वीप के अनेकों महाराजा आये। देव और दानव भी

मनुष्य का शरीर धारण करके आये। महादेव शंकर जी का धनुप ज्यों-का-त्यों अटल रहा। तिल-भर भी वह हिला नहीं।

लक्ष्मण—(क्रोध से) महाराज जनक के यह वचन मैं नहीं सुन सकता। आपके उपस्थित रहते उन्हें ऐसा साहस हुआ! सोचिये कितना साधारण है यह धनुप! यह क्या, मैं सम्पूर्ण ब्रह्मांड को गेंद की तरह उठा सकता हूँ। सुमेरु पर्वत को तृण की तरह तोड़ सकता हूँ। इस धनुप को यदि मैं छूते ही न तोड़ दूँ तो मेरा नाम लक्ष्मण नहीं!

विश्वा०—शान्त रहो, शान्त रहो लक्ष्मण। राम उठो! धनुप पर शर चढ़ाओ। मिथिलेश की कामना पूर्ण करो।

राम—जो आज्ञा। मुनिवर, आशीर्वाद दीजिए!

[राम शर-संधान करने में सफल होता है। धनुप टूट जाता है।]

[धनुप-भंग की ध्वनि से तीनों लोक दहल उठे। सूर्य देव के रथ के घोड़े मार्ग छोड़कर चलने लगे। दिग्गज चिंघाड़ने लगे। धरती डोल उठी। शेष, वराह और कच्छप तलमला उठे। लोग हर्ष से विह्वल होकर झांझ, मृदंग, शंख, शहनाई, ढोल और नगाड़े बजाने लगे। युवतियाँ मंगल-गीत गाने लगीं।]

विश्वा०—बधाई हो जनकराज!

शता०—महाराज, दास की बधाई भी स्वीकार करें।

जनक—महर्षि मैं आभारी हूँ आपकी असीम कृपा के लिये। आज मेरे सब पुण्य सफल हुए। [जनक के नेत्रों में हर्ष के आँसू आ जाते हैं।] मैं धन्य हुआ, मुनिवर आपके प्रयत्न से यह कार्य सफल हुआ, मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। आओ बेटी भूमिजा, पृथ्वी की पुत्री सीता आओ अपने हाथों से यह वरमाला राम को पहनाओ!

[माता-पिता की आज्ञा से बालहंसिनी के समान भूमिजा श्रीराम के निकट चली। उपस्थित प्रजागण मंगल-गान करने लगे। सखियाँ भी मंगल-गान करने लगी हैं, सीता जी का शरीर संकोच से काँप रहा था, उन्होंने काँपते हाथों से वरमाला श्रीराम के गले में पहना दी।]

छठा दृश्य

[मनुष्य सोचता कुछ है, विधि का विधान कुछ दूसरा ही होता है। युवराज राम को राज्यभार देकर महाराज दशरथ वानप्रस्थ आश्रम में जाना चाहते थे। राम को राक्षसों और असुरों का संहार करना था। कैकेयी को महाराज दशरथ ने जो वचन दिये थे उसके अनुसार राज्य के स्थान पर राम को चौदह वर्ष का वनवास मिला। राम सीता से विदा लेने उसके कक्ष में आए हैं।]

राम—प्रिये !

सीता—नाथ ! क्या आज्ञा है ?

राम—प्रियतमे ! पिता जी की आज्ञा है,......

सीता—नाथ ! पिता जी की क्या आज्ञा है ?

राम—मेरे लिए चौदह वर्ष का वनवास !

सीता—सुन चुकी हूँ प्राणेश्वर। हम लोगों का सौभाग्य है, उनकी आज्ञा की पूर्ति से हम अपना जीवन धन्य करेंगे।

राम—तुमसे ऐसी ही आशा थी सीते ! तो मैं जाऊँ न ?

सीता—मैं भी वनगमन के लिये प्रस्तुत होती हूँ। विलम्ब नहीं होगा।

राम—उचित कह रही हो, परन्तु यहाँ माता जी हैं, पिता जी हैं, तुम्हारे देवर आदि हैं उनकी सेवा सुश्रूषा के लिए तुम यहीं रहो।

सीता—यह क्या कह रहे हैं नाथ ! मैं...मैं भी आपके साथ चलूँगी, छाया की भांति मैं भी वन में रहूँगी।

राम—तुम जानती नहीं सीते, वनवास बड़ा ही कठिन और भयानक होता है। वन में भीषण सर्प-पक्षी और राक्षसों के-झुण्ड-के झुण्ड रहते हैं। मृगनयनी तुम वन जाने के लिये नहीं हो।

सीता—आपके साथ रहने से वन ही नगर होगा। पशु-पक्षी मेरे कुटुम्बी होंगे। वृक्षों की छाल के वस्त्र होंगे और पर्णकुटी ही स्वर्ग के समान सुखों को देने वाली होगी। कन्दमूल-फल मेरा आहार होंगे। क्षण-क्षण में आपके चरण-कमलों को देखते-रहने से मुझे मार्ग में कोई

थकावट न होगी। समतल भूमि पर घास और पेड़ों के पत्ते बिछाकर यह दासी आपके चरण दबायेगी। वन में मुझे असीम शान्ति मिलेगी।

राम—सुमुखि, तुम प्रेमवश हो रही हो।

सीता—आर्यपुत्र! मैं पतिव्रता हूँ। छाया बिम्ब को नहीं छोड़ सकती।

राम—अवश्य चलो सीते, ईश्वर हमारा मार्ग मंगलमय करेगा।

(परदा गिरता है)

सप्तम दृश्य

[इस प्रकार राम के साथ सीता और लक्ष्मण ने भी वनवास स्वीकार किया। पंचवटी में राम आश्रम बनाकर साधना में रत रहने लगे। सुरासुर विजयी लंकेश राक्षस के हृदय में भूमिजा धनुर्यज्ञ से ही बसी हुई थी, तभी से उसके मन में भूमिजा के अपहरण की चिन्ता समाई हुई थी। वनवास के अवसर को अपने अनुकूल समझ कर उसने छद्मवेश धारण किया। फलस्वरूप मारीच को माया-मृग बनाकर उसने राम और लक्ष्मण को आश्रम से दूर ले जाने का आयोजन किया। भूमिजा के विरह में राम बहुत दिनों तक आकुल रहे। चेतना आने पर ये वानरों और भालुओं के सहयोग से समुद्र पर सेतु बाँधकर लंका पहुँचे। रावण का विनाश कर राम अपनी शोभा सीता और अनुज लक्ष्मण के साथ अपनी जन्मभूमि अयोध्या आये।

अयोध्या में राम, भूमिजा के साथ बड़ी तृप्ति और मधुरता से अपने जीवन को सुखी बना रहे थे। एक दिन वे अपनी प्रजा के सम्बन्ध में अपने दूत भाद्र से समाचार पूछ रहे थे कि अपने सम्बन्ध में भी जानने की जिज्ञासा हुई। बड़े आग्रह के बाद जब दूत ने यह कहा कि बहुत दिनों तक पर पुरुष के आश्रय में रही हुई सीता के साथ राम का रहना उचित नहीं, तो सुनते ही राम संज्ञाशून्य हो गए। राम भूमिजा के पति थे। मर्यादा पुरुषोत्तम थे। सीता के गर्भवती रहने पर भी तत्काल उन्होंने निश्चय किया और लक्ष्मण को आदेश दिया कि तुम गंगातट-सेवन के व्याज से शीघ्र सीता को वन में छोड़ आओ। भूमिजा सर्वसहा भूमि की पुत्री थी। राम मर्यादा पुरुषोत्तम थे तो वह स्वयं

मर्यादा थीं । आश्रम में वह अपने नवजात शिशु लव एवं कुश के साथ वाल्मीकि मुनि की छाया में बड़ी साधना से अपना जीवन बिताने लगीं। एक दिन वाल्मीकि सीता जी के दोनों पुत्रों से बात कर रहे थे ।]

वाल्मीकि—वत्स लव और कुश !

लव—आज्ञा महर्षे !

वाल्मीकि—अश्वमेध यज्ञ का एक निमन्त्रण आया है । तुम लोग भी साथ चलोगे ?

कुश—अवश्य मुनिवर, हम आग्रह करेंगे ।

वा०—मैं चाहता हूँ वत्स, तुम लोग अवश्य चलो । तो आओ बेटा, (उठकर) मार्ग के पवित्र क्षेत्र में तुम रामायण का गान करते चलो । हो सकता है रामायण सुनने के लिए महाराज राम तुम लोगों को बुलावें तो अवश्य चले जाना । तुम वनवासी हो, पुरस्कारस्वरूप कुछ ग्रहण न करना । परिचय पूछने पर बताना हम वाल्मीकि मुनि के शिष्य हैं ।

अष्टम दृश्य

(अयोध्या नगरी में महाराज रामचन्द्र का दरबार)

राम—लक्ष्मण ! तुमने भी सुना ! दो मुनि बालक आये हैं । बड़ा मधुर कंठ है !

लक्ष्मण—हाँ, महाराज पूरी नगरी में चर्चा है ।

राम—इन मुनिकुमारों को राजभवन में बुलाया जाये ?

लक्ष्मण—अवश्य ! वह तो दूसरी ओर बैठे प्रतीक्षा ही कर रहे हैं । मैं अभी बुलाता हूँ ।

[लव-कुश प्रवेश करते हैं, रामायण-पाठ करते हुए]

राम—[स्वगत] यह बालक कितने सुकुमार हैं ! [प्रकट] लक्ष्मण ! यह कुमार कौन हैं ?

लक्ष्मण—इन्हें लोग मुनि-कुमार बताते हैं । परन्तु !........

राम—[हर्ष से] परन्तु क्या लक्ष्मण ?

लक्ष्मण—(रुकते हुए) महाराज इनमें और आपमें इतनी समानता है कि ......

राम—मुझमें और इन मुनि-कुमारों में ?

लक्ष्मण—हां महाराज, इतना ही अन्तर समझिए यह युवक हैं, आप प्रौढ़। इन्होंने वनवासियों के परिधान पहने हैं और आपने राजसी।

राम—लक्ष्मण इन्हें देखकर न जाने क्यों मेरी आँखों में हर्ष के आँसू उमड़ रहे हैं ?

लक्ष्मण—मुनिकुमारों में ऐसी सौम्यता ! आश्चर्य ! यह वाल्मीकि मुनि आ रहे हैं।

राम—तो मुनिवर से हम अपनी जिज्ञासा निवेदन करें ! प्रणाम मुनिवर !

वाल्मीकि—राजन् कुशली हो। [रुककर] इन कुमारों से गान सुन रहे हैं !

राम—मुनिवर यह बालक बड़े तेजस्वी लग रहे हैं। किन के पुत्र हैं, इन्हें देखकर मेरे हृदय में वात्सल्य का समुद्र-सा उमड़ रहा है। इनका परिचय दीजिए।

वाल्मीकि—महाराज मैं स्वयं बताता, परन्तु अब तो आप ही पूछ रहे हैं। सुनिए यह महाराजाधिराज अयोध्या-नरेश राम और मैथिली भूमिजा के पुत्र हैं। नाम हैं लव और कुश।

राम—(घबराकर) सीता के पुत्र ? आप क्या कह रहे हैं मुनिवर !

वाल्मीकि—सत्य कह रहा हूँ राजन् ! जिनकी स्वर्णमूर्ति बनाकर आप राजसूय कर रहे हैं, वह पुण्य की मूर्ति सीता जीवित हैं, मेरे आश्रम में हैं, निर्दोष हैं पुत्रों समेत उन्हें ग्रहण कीजिए।

राम—मैं लज्जित हूँ, मुझे क्षमा करें मुनिवर। आपकी पुत्रवधू सीता मेरे सामने अग्नि में शुद्ध प्रमाणित हो चुकी हैं, परन्तु लंका-निवास के कारण प्रजा उनकी शुद्धि पर विश्वास नहीं करती। आप किसी भाँति प्रजा को विश्वास करा सकें तो ...

वाल्मीकि—अवश्य राजन्, मैं सीता को प्रजा के सामने लाऊँगा। उसके पतिव्रत धर्म की निर्दोषता का प्रमाण दूंगा। भूमिजा जल की तरह निर्मल और शुद्ध है, सत्य कह रहा हूँ महाराज !

राम—मुनिवर मैं लज्जित हूँ !

वाल्मीकि—अच्छा, मैं चला ।

नवाँ दृश्य

[अयोध्या के एक भाग में महाराज राम एक उच्च शिला पर बैठे हैं। लक्ष्मण तथा अन्य प्रजागण उपस्थित हैं। मुनि विश्वामित्र सीता को लेकर आते हैं ।]

विश्वामित्र—महाराज राम, उपस्थित प्रजागणो, आज इस समय मैं आपकी महारानी सीता, नारी-आदर्श भूमिजा को लाया हूँ कि वह आपके सम्मुख अपनी पवित्रता का प्रमाण दे दे । आओ बेटी !

[व्याकुल - सी, कांपती हुई सीता आगे बढ़ती हैं। प्रजा में कोलाहल होता है !]

एक प्रजागण—सीता निर्दोष हैं।

दूसरा प्रजागण—देवी सीता पवित्र हैं।

तीसरा प्रजागण—हमें भूमिजा की पवित्रता पर संदेह नहीं।

सीता—मुनिवर, स्वामी [सीता की आवाज कांप जाती है] और प्रजागण, मैं पवित्र हूँ, इसी बात का प्रमाण आप चाहते हैं न? इसका प्रमाण मैं आपको देती हूँ। हे माँ भूमि, वसुन्धरे ! तुम्हारी पुत्री भूमिजा यदि पवित्र है तो तू उसे अपने अंक में छिपा ले। माँ! माँ भूमि! माँ वसुन्धरे ! माँ [अत्यन्त कांपती आवाज में] माँ धरती ! माँ मैं आई !

[धरती फट जाती है—जोर का धड़ाका नेपथ्य में होता है ! प्रजागण बोलने लगते हैं। सीता धरती में समा जाती है।]

राम—सीते ! प्रिये ! सीते ! [ऊंचे स्वर में] सीते !

विश्वामित्र—भूमि की पवित्र पुत्री भूमिजा माँ के पावन आश्रय में चली गईं ।

प्रजागण—सीता की जय, देवी सीता की जय। भूमिजा की जय।

अपमान

(श्री हरिचन्द्र खन्ना)

पात्र-परिचय

मधुरिका—
चन्द्रमल्लिका—
महामन्त्री—
प्रहरी—
सेनापति—

स्थान—उत्कल के महामन्त्री का शयनागार।

समय—सन्ध्या, जो रात्रि में परिणत होती जाती है।

[वर्षा अभी रुकी है और आकाश पर लालिमा खिल रही है। कहीं-कहीं सुनहरे बादल लहरा रहे हैं। मंच के मध्य में पुष्पों से लदी शय्या पर एक सुडौल शरीर वाली सुन्दर युवती बैठी अपने विचारों में मग्न है। ऐसा प्रतीत होता है वह किसी की प्रतीक्षा कर रही है, परन्तु उसकी उत्कंठा में थकान का कोई आभास नहीं मिल रहा। क्योंकि वह औत्सुक्य-प्रधान है। उसके मृगी-जैसे बड़े-बड़े निर्मल नेत्रों में एक विचित्र चमक है। कदाचित् वह अपनी साधना के पूर्ण होने की आशा में है। कभी-कभी ऐसी दृष्टि से देखती है जिससे उसके हृदय की अतृप्त ईप्सा का हल्का-सा आभास मिल जाता है। इस शय्या से कुछ दूर एक वातायन है जहां से उसकी सखी मधुरिका आकाश पर पूर्णरूप से उन्मिषित संध्या की छटा निहार रही है। स्वभाव से भावुक होने के कारण वह इस सुन्दर दृश्य को देखकर आल्हादित हुई जा रही है]

मधुरिका—[आनन्द-विभोर होते हुए] कितने दिनों के पश्चात् ऐसी सन्ध्या आई है!

[चन्द्रमल्लिका चुप है]

मधुरिका—[जैसे अपने-आप] वर्षाऋतु यों तो बड़ी सुहावनी है, परन्तु आकाश की आभा को मानो छिपा-सी लेती है।

चन्द्रमल्लिका—[फीकी हंसी हंसकर, स्वतः] आकाश की आभा! [फिर अपनी सखी को सम्बोधित कर] तुम्हें अच्छी लगती है यह आभा!

मधुरिका—[आश्चर्य से] यह किसे अच्छी नहीं लगती!

चन्द्रमल्लिका—मुझे।

मधुरिका—[निकट आते हुए] क्यों?

चन्द्र—[दीर्घ निःश्वास] मुझे तो यह अंगारों की शय्या-सी प्रतीत होती है।

मधुरिका—[विस्मित-सी] चन्द्रा!

चन्द्र—[गम्भीर भाव से] हां मधुरिके, अस्त होते हुए सूर्य की आभा मुझे तनिक भी अच्छी नहीं लगती। और वर्षा ऋतु की सन्ध्या तो जैसे आकाश से चिपक ही जाती है। हटने का नाम ही नहीं लेती।

मधुरिका—इसी क्षणिक अनश्वरता ने तो उसे अनुपम बना दिया है सखि! यह लालिमा! यह प्रकाश!

चन्द्र—[वेग से] मैं प्रकाश नहीं चाहती···मैं तो चाहती हूँ कि चारों ओर अन्धकार का साम्राज्य हो, और अन्धकार का आवरण उस समय तक आकाश को छिपाए रखे जब तक मेरी साध पूरी न हो जाए।

मधुरिका—[उत्सुकता से] क्या साध है तेरी?

चन्द्र—मेरी! (संभलकर) मेरी! नहीं नहीं मधुरिके! मेरी कोई साध नहीं। मैं हर प्रकार से सन्तुष्ट हूँ।

मधुरिका—(पॉज) आज इतनी विक्षुब्ध क्यों हो!

चन्द्र—(भावनाओं को दबाते हुए) मैं? नहीं तो!

[मधुरिका चन्द्रमल्लिका को सन्देह की दृष्टि से देखती है। वह मुंह उधर कर लेती है। कुछ क्षणों के पश्चात् जब वह फिर मधुरिका से आंखें

मिलाती हैं तो वह उसे बराबर उसी दृष्टि से निहारे जा रही है । इस पर वह और भी विचलित हो उठती है]

चन्द्र०—[नैराश्यपूर्ण] इस लालिमा में मेरे अरमानों का लहू सना हुआ है। (भावावेश में आकर) और जो यह चमकीले-दमकीले अभ्रकण देख रही हो, यह चिता की चिनगारियां हैं।

मधुरिका—(विस्मित होकर) चिता की चिनगारियां हैं! सांझ हुए कैसी बातें कर रही हो ?

चन्द्र०—(विचलित होकर) यह रक्त-रंजित ताम्रवर्ण जली निशा, प्रकृति के प्लोपित हृदय का प्रतिबिम्ब है, अनेकानेक प्राणियों की झुलसी हुई आशाओं और अकांक्षाओं का···

मधुरिका—पर सखि सन्ध्या तो प्रतीक है शान्ति के आगमन का···

चन्द्र—(कुछ शान्त होते हुए) ठीक है। तभी तो मुझे अन्धकार इतना अच्छा लगता है। (फिर विचलित होकर) पर···पर सन्ध्या की आभा मुझ से देखी नहीं जाती। अस्ताचल में विलीन होता सूर्य मुझे चेतावनी देता है कि चन्द्रमल्लिका एक और दिवस गया, और अभी तेरी साधना अधूरी है।

मधुरिका—कैसी साधना ? (चन्द्रा चुप है)

(स्नेह से) इन्हीं बातों से तो महाराज रुष्ट हो जाते हैं।

चन्द्र— किन बातों से ?

मधुरिका—यही तुम्हारी प्रतिक्षण की उदासी। यह विरक्ति···

चन्द्र— (गम्भीरतापूर्वक) जिसके भाग्य में उदास रहना ही लिखा हो वह कैसे मुस्करा सकता है ? मेरा जीवन ही ऐसा है मधुरिके।

मधुरिका—क्यों क्या हुआ है तेरे जीवन को ! तुम तो उत्कल के शिरोभूषण की पत्नी हो। यहाँ हर प्रकार का ऐश्वर्य और वैभव है। नगर-भर में इतना सम्मान है !

चन्द्र—मान-सम्मान से हृदय की भूख कब मिटती है मधुरिके ! और स्त्री को विलास और वैभव के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ चाहिए।

मधुरिका—क्या चाहिए तुझे ?

(चन्द्रमल्लिका एक ठंडी सांस लेती है।)

मधुरिका—(स्नेह से) चन्द्रा तेरा जीवन तो हर प्रकार से सुखी होना चाहिए। मेरा विवाह मेरी इच्छा के विरुद्ध हुआ इसलिये मैं सुखी नहीं हूँ। यों तो घर में सब कुछ है किन्तु मेरी आत्मा सन्तुष्ट नहीं। पर तुम्हें तो······

चन्द्र—तू समझती है मेरी आत्मा संतुष्ट है।

मधुरिका—तूने तो अपनी इच्छा से महामंत्री महाराज को वरा था।

चन्द्र—(गम्भीरता से) हाँ। मैंने उन्हें अपनी इच्छा से वरण किया था किंतु...किंतु मेरी आत्मा फिर भी संतुष्ट नहीं। (भावावेश में) उसकी प्यास नहीं बुझती! एक अपूर्ण ईप्सा, एक अतृप्त तृष्णा उसे प्रतिपल व्याकुल किये रखती है।

(अवकाश)

आज तक मैंने हृदय के जिस गुप्ततम रहस्य को सबसे छिपाए रखा है उसे आज तुझ से कह रही हूँ, क्योंकि तू मेरी प्यारी सखी है। (हंसती है।)

(मधुरिका चुप है।)

चन्द्र—मैं उनका आदर तो करती हूँ! किंतु वह प्रेम जिसमें आत्म-समपर्ण हो मैं उन्हें नहीं दे सकी, क्योंकि...(सहसा रुक जाती है)

मधुरिका—क्यों?

चन्द्र—मुझे इसका खेद है।

मधुरिका—(आश्चर्य से)चन्द्रा एक बात कहूँ! तू उसे अपने तक ही रखियो।

चन्द्र—कैसी बात?

मधुरिका—महाराज के विषय में।

चन्द्र—(उत्सुकता से) कहो।

मधुरिका—उस दिन तुम्हें यहां न पाकर मैं लौट रही थी कि उद्यान में महाराज से भेंट हो गई। महाराज के मन में जाने क्या विचार था कि मुझे रोक कर बोले, 'मधुरिका यह तेरी सखी बड़ी विचित्र है।' मैंने

कहा 'क्यों क्या बात है ?' कहने लगे 'सदा विस्मित और उदासीन रहती है किंतु जैसे ही मैं भवन में प्रविष्ट होता हूँ वह अपने आपको जैसे बदल डालती है। उसकी आँखों में चमक और मुख मंडल पर आभा आ जाती है। मुझे देखते ही यों मुस्कराने लगती है जैसे मेरे दर्शन मात्र से उसका अंग-अंग पुलकित हो उठा हो। किंतु...

चन्द्र—(वेग से) किंतु क्या ?...क्या कहा उन्होंने ?

मधुरिका—उन्होंने कहा, किंतु मुझे प्रतिक्षण ऐसा लगता है कि यह प्रसन्नता वास्तविक नहीं, एक आवरण मात्र है उसकी आन्तरिक भावनाओं का। मुझे ऐसा लगता है जैसे यह हर्ष और उल्लास हृदय से नहीं मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ है। उसका यह व्यवहार एक कड़ी साधना है जो वह कर्तव्य-बद्ध हो अपने अधिदेव के लिए करती है।

चन्द्र—(खेदपूर्वक) तो वे पागए इस भेद को !

मधुरिका—कौनसा भेद ?

चन्द्र—(चौंक कर) भेद ?... नहीं सखि ! एक स्त्री की इससे बड़ी साध क्या हो सकती है मधुरिका कि वह आजीवन अपने अधिदेव को प्रसन्न रख सके ?

(सहसा चन्द्रमल्लिका के होठ कपकपाने लगते हैं, उसके नयन आर्द्र हो जाते हैं। और उसके मुख पर मानसिक संघर्ष का चित्र खिच जाता है। मधुरिका उसे देखकर चकित रह जाती है)

चन्द्र—(भावावेश में) मधुरिका ! मधुरिका !

मधुरिका—क्या हुआ सखि ?

चन्द्र—मेरा हृदय सहसा आत्म-ग्लानि से भर आया है।

मधुरिका—(चकित-सी) आत्म-ग्लानि ?

चन्द्र—हाँ, मुझे आज अनुभव हो रहा है कि वे कितने महान् हैं और मैं कितनी नीच हूँ।

मधुरिका—क्या कह रही है चन्द्रा ?

चन्द्र—मैं यह यातना और अधिक समय तक सहन नहीं कर सकती। मैंने निश्चय कर लिया है कि आज का दिन मेरे लिये महान्

दिवस होगा। आज जो यह महत्वपूर्ण अवसर मेरे हाथ लगा है, उसे मैं यों नहीं खो दूंगी। मैं उस दीवार को अशेष कर दूंगी जो हमारे हृदयों के बीच खड़ी हो गई है।

मधुरिका—कौनसी दीवार ?

चन्द्र—छल-प्रपंच की, असत्य की...मैं चेष्टा करूंगी कि आज सब भ्रम मिट जायें और हमारे हृदयों में फिर वही पवित्र और निर्मल प्रेम तरंगित हो उठे जिसके अभाव में हम दोनों का जीवन एक मिथ्या अभिनय बन के रह गया है।

मधुरिका—पर इसका कारण क्या है ?

चन्द्र—(संयत होकर) कोई नहीं।

मधुरिका—तो फिर यह उदासीनता अकारण है ?

चन्द्र—मैं संपूर्ण रूप से संतुष्ट हूँ सखि। मैंने यह मार्ग समझ-बूझ कर चुना है।

मधुरिका—कौनसा मार्ग ?

चन्द्र—चल हट मधुरिका, जाने भी दे अब !

मधुरिका—मैं जानती हूँ चन्द्रा, तू हृदय की बात मुझसे छिपा रही है। मेरी आत्मा स्वयं संतप्त है, मैं जानती हूँ इस विरक्ति और उदासीनता का कारण।

चन्द्र—(गम्भीर भाव से) आत्म-समर्पण के बिना प्रेम में पूर्णता नहीं आ सकती मधुरिका! मैंने आज यह सेज सुन्दर पुष्पों से सजाई है, सोलह शृंगार किये हैं।

मधु०—किस लिए ?

चन्द्र—प्रेम को चरम सीमा तक पहुँचाने के लिए। आज वह शुभ क्षण आ पहुंचा है जब मैं प्रेम की मीमांसा को पहचान सकूंगी...आज जब वे मेरा आश्लेष करेंगे तो मैं अपना तन-मन उनके चरणों में डाल दूंगी। (उन्मत्त होकर) मैं अपने आपको उनमें लय कर दूंगी।

[आनन्द-विभोर हो आँखें बन्द कर लेती है। कुछ क्षण इसी मुद्रा में रहने के पश्चात् चौंकती है और उनके मुख पर फिर उसी व्याकुलता और

उत्कंठा के चिन्ह प्रगट होते हैं। मधुरिका फिर उसे आश्चर्य से निहारती है। चन्द्रमल्लिका आन्तरिक भावों को छिपाने की चेष्टा करती है।]

चन्द्र—युद्ध का क्या समाचार है?

मधुरिका—मुझ से क्या पूछती है चन्द्रा! उधर बाहर झांक और देख, इन निर्जन उद्यानों को, जो किसी समय आनंद-मंगल से गूंजा करते थे। जहाँ वृक्षों की घनी छाया में प्रेम हिंडोले झुलाये जाते थे। आज वे मरघट की भाँति सूने पड़े हैं। ये जले हुए घर और सूनी अट्टालिकायें और प्राचीर के उस पार से प्रतिपल उभरता, हृदय में टीस उठाने वाला आर्तनाद क्या तुम्हें युद्ध का समाचार नहीं सुना रहा?

चन्द्र— (गंभीरतापूर्वक) बड़ा भीषण युद्ध है मधुरिके, किंतु हमारी सेना भी शत्रु का संहार कर रही है।

मधु०—हमारी सेना उनके सामने क्या सत्ता रखती है। यह तो वर्षा......

चन्द्र—हां सखि, इस असमय वर्षा ने बड़ा उपद्रव मचा रक्खा है।

मधु०—हमारे लिये तो अच्छा ही है। यदि इस वर्षा के कारण शत्रु सेना में महामारी न फैलती तो आज उत्कल कभी का शत्रु के हाथ जा चुका होता।

चन्द्र—हां सखि, हमारी सेना खूब लड़ रही है। किंतु मेरा विचार है कि विजय शत्रु की होगी।

मधु०—(वेग से) भगवान् न करें। उस क्षण से पहले हम सब उठ जायें तो अच्छा हो।

चन्द्र—ऐसा ही होगा।

मधु०—(चौंक कर) क्या कहा?

चन्द्र—(संभल कर) हां मधुरिके! यदि युद्ध ऐसे ही चलता गया तो हमारे देश का क्या बच रहेगा और देश के उजड़ जाने पर हम जीवित भी रहे तो क्या!

(इस समय सन्ध्या की लालिमा में नीलिमा प्रवेश करती जा रही है

और निशा को आमन्त्रण मिल रहा है कि वह आये और आकाश पर अपना साम्राज्य जमा ले।)

मधु०—अच्छा चन्द्रा चलूं ! (चन्द्रमल्लिका चुप रहती है)

मधु०—(उस के मौन से चकित हो कर) अंधेरा हो चुका। रंभा कहां है। वह जरा दीपक जला देती।

चन्द्र—मैंने उसे विश्राम करने भेज दिया है। मैं जरा एकान्त चाहती थी।

मधु०—मैं जला दूं दीपक !

चन्द्र—(स्तब्ध सी) नहीं रहने दो।

मधु०—अंधेरे में बैठी रहोगी !

चन्द्र—हाँ, मैं किसी की प्रतीक्षा कर रही हूँ।

मधु०—किस की ?

चन्द्र—(मुस्करा कर) निशायामिनी की।

मधु०—तेरा भेद कोई नहीं पा सकता चन्द्रा। (प्रस्थान)

चन्द्र—(स्वगत) हां, मैं प्रतीक्षा कर रही हूँ निशायामिनी की, तिमिराच्छादित रात्रि की, कि मैं अपना प्रतिशोध ले सकूं।

(चन्द्रमल्लिका उद्विग्न हो उठती है और सेज से उठकर इधर-उधर टहलने लग जाती है। फिर गवाक्ष के निकट जाकर बाहर की ओर देखने लगती है। कुछ क्षण मौन रहती है, फिर विचार शब्दों का रूप धारण करते हैं।)

चन्द्र—(स्वगत) निशागमन की लालिमा फीकी पड़ते-पड़ते मिट चुकी। पर वह अभी तक नहीं आया। अब तक तो उसे आ जाना चाहिए था। (क्षणिक अवकाश के बाद आर्तस्वर में) महाप्रभो, क्या आज भी मेरी साधना निष्फल ही रहेगी। (वेग से) नहीं नहीं, दीन वत्सल, तू तो किसी का दिल नहीं तोड़ता।

(अब आकाश पर लालिमा की एक भी रेखा नहीं। चारों ओर नीलिमा छा गई है पर कहीं-कहीं काले बादल भी दिखाई दे रहे हैं। एकाएक उनमें से एक के कोर दमकने लगते हैं और चन्द्रमा उदय होता दिखाई देता है।)

चन्द्र—(नैराश्य पूर्ण) आह, कृष्ण मेघ मालाओं के आवरण को चीर कर चन्द्रमा निकलता आ रहा है ! पर मैं ऐसा नहीं चाहती...मैं अंधकार चाहती हूँ, घोर अंधकार। उमापते ! आज इन सदैव जागते रहने वाले तारों की आंखें मूंद डालो।

(चन्द्रमा फिर बादलों में छिप जाता है)

निशीथिनी, तू भी अपने लम्बे-लम्बे मेघों के ऐसे केश बखेर दे ताकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तिमिर की निद्रा में लीन हो जाये। (किसी के आने की पदचाप से चौंकते हुए) वह आ गया !

(स्वर)—चन्द्र मल्लिका !

चन्द्र—कौन ? ओह आप ! आ गये महाराज। मैं कबकी बाट जोह रही थी।

महामन्त्री—मुझे आज देर हो गई। मैं महाराज से आवश्यक परामर्श कर रहा था।

चन्द्र—(उत्सुकता पूर्वक) किस विषय पर प्राणाधार !

महामन्त्री—तुम्हें तो ज्ञात ही है चन्द्रमल्लिको हमारी बहुत-सी सेना मारी जा चुकी है...।

चन्द्र—और शत्रु प्रतिपल प्रबल होता जा रहा है।

महामन्त्री—हाँ, पर उत्कल के योद्धा भी अन्तिम क्षणों तक अपने देश की रक्षा करते-रहने का प्रण ले चुके हैं। काश तुमने आज हमारे योद्धाओं को प्राणों की आहुति देते देखा होता ! वे व्यग्र सागर की उन्मत्त लहरों के समान आगे ही आगे बढ़ते जा रहे थे। उनके ताम्र मुखड़े और अंगारों से दहकती हुई ओज-भरी आँखें ! पर चन्द्रा, आज दीपक नहीं जला और सेविकाएँ कहाँ हैं ?

चन्द्र—उन्हें मैंने विश्राम करने की आज्ञा दे दी है। बेचारी दिन-रात मेरी सेवा में खड़ी रहती हैं...मैं दीपक जलाए देती हूँ।

महामन्त्री—एक-आध सेविका को तो यहाँ रहने देतीं।

चन्द्र—मैं एकान्त चाहती थी।

महा०—क्यों ?

चन्द्र—यों ही।

महा०—(संदेह की दृष्टि से) आज इतनी व्याकुल क्यों हो?

चन्द्र—(अपनी व्याकुलता को छिपाते हुए) नहीं तो!

महा०—व्याकुल नहीं हो ?

चन्द्र—नहीं नाथ ।

महा०—तुम्हारे नयन तो कुछ और ही कह रहे हैं।

चन्द्र—(निष्ठुरता से) क्या कह रहे हैं ?

महा०—वे कह रहे हैं कि चन्द्रमल्लिका उदास है और उसका मन अशान्त है....और तुम्हारी यह आतुरता...।

चन्द्र—नहीं प्राणाधार !

महा०—बता भी दो चन्द्रा क्या बात है ?

चन्द्र—(दीर्घनिःश्वास खींचते हुए) आप मेरी उदासी का कारण जानकर क्या लेंगे ?

महा०—(कातरता पूर्वक) वह क्यों ?

चन्द्रा—आप हुए राष्ट्र के शिरोभूषण, उत्कल के महामन्त्री। आपको आवश्यक परामर्श से कहाँ अवकाश जो.........

महा०—(हंसकर) बड़ी निष्ठुर हो चन्द्रमल्लिके.?

चन्द्र—(भावपूर्ण) क्या मैं सत्य नहीं कह रही ? आज कितने दिन हो गए हैं आपने मेरे संग कभी हंसकर बात तक नहीं की। अवसर मिला तो पल भर देख गए, नहीं तो.........

महा०—नहीं चन्द्रा, तुम तो हर समय मेरे मन में रहती हो।

चन्द्र—भुला देने का यह अच्छा बहाना है ।

महा०—वह कैसे !

चन्द्र—जिसे विसारना हुआ उसे मन के एक कोने में लटका दिया ।

महा०—(प्रेमार्द्र भाव से) पर तुम तो मेरे प्राणों में व्याप्त हो चुकी हो चन्द्रा !

चन्द्रा—यदि यह सत्य होता तो आप मुझ से दूर-दूर न रहते !

(एक दीर्घ निःश्वास) आप क्या जानें महाराज एक अकेली नव-विवाहिता युवती रातें कैसे काटती है ! जब पवन का प्रत्येक झकोरा मधु सुगन्ध से बोझल हो जाता है और चांदनी सोमरस की भांति मादक... (प्रेमानुरोध से) आप मुझ से दूर-दूर क्यों रहते हैं नाथ ?

महामन्त्री—(खेद से) तुम्हें ज्ञात है चन्द्रा, संसार की प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण होता है। इसका भी एक कारण है ।

चन्द्र—(शीघ्रता से) वही मैं जानने को आतुर हूँ महाराज।

महामन्त्री—(संकोच से) वह कारण मैं कैसे कहूँ...चन्द्रमल्लिके, वह कारण......

चन्द्र—हां हां महाराज निस्संकोच कहिए।

महामन्त्री—(रुकते-रुकते).......चन्द्र मल्लिका ।

चन्द्र—आपको मुझ पर विश्वास नहीं ?

महामन्त्री—(बात बदलने की चेष्टा करते हुए) रात्री क्षणभंगुर है चन्द्रा ।

चन्द्र—(आवेग से) पत्नी पति की अर्धांगिनी होती है महाराज । यदि आप मुझ से कुछ भी छिपायेंगे तो आप स्वत्तापहरण के अपराधी होंगे।

महा०—हठ न करो चन्द्रमल्लिका ।

चन्द्र—अच्छा न सही, यदि आपके हृदय में मेरे लिये अणुमात्र भी प्रेम होता तो आप मुझसे अपने मन की बात स्पष्ट कह देते । (आर्द्र नयनों से) मैं आपके मन में नहीं बसती,नहीं तो......

महामन्त्री—(स्नेह पूर्वक) चन्द्रमल्लिका तुम्हारे नयनों में आंसू ! मुझे खेद है मल्लिका, मैं आज कल बहुत व्यस्त रहा हूँ और तुम्हारे पास दो क्षण भी नहीं बैठ सका । युद्ध भी ऐसा लम्बा हुआ कि...

चन्द्र—क्या समाचार है युद्ध का ?

महा०—हमारी सेना संकट में है, चन्द्रमल्लिका, और शत्रु-साहस तो दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। अभी अभी...

चन्द्र—(वेग से) हाँ महाराज, क्या हुआ अभी अभी...

महामन्त्री—तुम फिर उद्विग्न हो उठीं ?

चन्द्र—नहीं नहीं, आप कह रहे थे ना कि अभी अभी......

महा०—अभी अभी एक दुष्ट मेरे हाथों मर गया। उद्यान वाले मार्ग से हमारे भवन में प्रविष्ट हो रहा था, मुझे शत्रु के गुप्तचर-ऐसा लगा......(चन्द्र मल्लिका सहसा उद्विग्न हो उठती है) मैंने उसे अपने शयनागार की ओर बढ़ते देखा तो मैं छिप कर खड़ा हो गया। और जैसे ही वह अभागा मेरे निकट आया मैंने एक ही वार में उसका काम तमाम कर दिया।

चन्द्र—(उद्वेग को संयत करने की चेष्टा करती हुई) ओह, मैं तो अत्यन्त भयभीत हो गई थी। अच्छा हुआ वह दुष्ट मारा गया। परन्तु यह था कौन ?

महामन्त्री—(उपेक्षा से)मैंने देखा नहीं कौन था, अंधकार में उसे पहचान नहीं सका। प्रहरी से कह आया हूँ कि दुर्गपति को सूचित करदे।

चन्द्र—(वेग से) शत्रु का गुप्तचर ही होगा !

महामन्त्री—कोई भी हो, उसने अपने दुस्साहस का मजा चख लिया होगा !

(चन्द्रमल्लिका अपने उद्वेग को दबाने में सफल हो गई है। किन्तु वह सहसा अपने विचारों में खो जाती है)

फिर किन-किन विचारों में डूब गई हो ?

चन्द्र—(चौंकते हुए) मैं सोच रही थी महाराज। हाँ, अपनी उपेक्षा का कारण तो बताया ही नहीं आपने।

महा०—छोड़ो, जाने दो क्या रखा है इन बातों में।

चन्द्र—आपके लिये न हो ! मेरे लिये वह प्राणों से अधिक महत्व रखता है। पर आप क्यों बताने लगे मुझे अपने मन की बात....आप तो राग-अनुराग से अनासक्त हो चुके हैं।

महा०—(संकोच से) नहीं यह बात नहीं चन्द्रमल्लिका ! मैं सोचता हूँ कहीं उस बात से तेरे कोमल हृदय को आघात न पहुँचे।

चन्द्र—(गंभीर भाव से) सत्य की चोट सहने की शक्ति इस सेविका में है प्राणनाथ ।

महामन्त्री—(हंसकर) क्यों न हो ! उत्कल के एक सर्वश्रेष्ठ नायक की कन्या हो ।

चन्द्र—और उत्कल के शिरोभूषण महामन्त्री की पत्नी।

महामन्त्री—मुझे तुम पर गर्व है मल्लिके । परन्तु मैं तुम्हें कैसे बताऊँ ! जब से हमारा विवाह हुआ है मैं देखता हूँ तुम सदैव उदासीन और निराश-सी रहती हो। कभी-कभी मैंने तुम्हें हंसते-मुस्कराते देखा है किन्तु तुम्हारे हास में वह मुक्त भाव और उल्लास नहीं होता जो नवयुवतियों के हास में होता है। इससे मुझे भ्रम हुआ कि कदाचित् तुमसे चुनाव में भूल हुई है। सुहाग रात को भी मैंने तुम्हें उदासीन ही पाया था।

चन्द्र—उस समय मेरे हृदय में संग्राम हो रहा था।

महा०—संग्राम कैसा ?

चन्द्र—न पूछिए...कोई लाभ नहीं ।

महामन्त्री—फिर भी ! मैं जानना चाहता हूँ कि तुम्हें क्या कष्ट है।

चन्द्र—जानने से कोई लाभ तो होगा नहीं।

महा०—प्राण देकर भी मैं तुम्हारा कष्ट हरूँगा ।

(चन्द्रमल्लिका सिसक उठती है। महामन्त्री उसे भुजाओं में लेकर उसके आँसू पोंछते हैं)

महा०—मल्लिके, क्या तुम मुझे पराया समझती हो ?

चन्द्र—मेरा और कौन है महाराज !

महा०—तो कहो ! मैं प्राण देकर भी तुम्हें....

चन्द्र—तो सुनिए महाराज ! परन्तु...सुनने से पहले मुझे एक वचन दीजिए।

महा०—मैं वचन देता हूँ ।

चन्द्र—आप मेरे अपमान का प्रतिशोध लेंगे।

महा०—(कौतूहल से) तुम्हारा अपमान!

चन्द्र—(गम्भीर भाव से दृढ़तापूर्वक) हाँ, उत्कल के रक्षक महामन्त्री की पत्नी का अपमान....

महा०—(क्रोध से) मैं तुम्हारी ओर कुदृष्टि डालने वाले की आँखें नोच लूंगा ।

(चन्द्रमल्लिका प्रसन्नता से मुस्कराती है, लेकिन कहती कुछ नहीं)

हाँ प्रिये, तुम्हारे लिये मैं क्या नहीं कर सकता ।

चन्द्र—वचन देने से पहले एक बार पुनः विचार कर लीजिए प्राणाधार! संभव है आप उसे पूरा कर न सकें ।

महा०—क्षत्रिय का वचन कभी अपूर्ण नहीं रहा मल्लिके।

चन्द्र—सुनिए नाथ ! मेरी दुखःगाथा। (अवकाश) आपको ज्ञात होगा महाराज, कि मेरा पालन-पोषण राज-भवन में हुआ है ।

महा०—हाँ ।

चन्द्र—पिता की छत्रछाया सिर से उठते ही मैंने ऐसा अनुभव किया कि मैं इस विराट् और विस्तृत भूतल पर अकेली रह गई हूँ । किन्तु महाराज ने मुझे राजभवन में बुला लिया ।

महा०—हाँ हाँ।

चन्द्र—जहाँ मैं और राजकुमारी प्रणीति, एक साथ पलने लगीं। राज भवन में रहते हुए मेरा मन कुछ और ही चाहने लगा । मेरी मनोकामनाएँ बादलों से भी ऊपर उड़ने लगीं। एक विचार सदैव मेरे मन को पीड़ित किए रखता था।

महा०—वह क्या ?

चन्द्र—प्रणीति महाराजा की पुत्री थी, इसलिये वह राजसिंहासन पर बैठेगी। किन्तु मैं थी एक साधारण प्रादेशिक नायक की अनाथ कन्या ।

महा०—समझता हूँ।

चन्द्र—(अतृप्त ईप्सा से विह्वल होकर) कल्पना ही कल्पना में मैंने न जाने कितने स्वप्न-साम्राज्य-लोक स्थापित किए और उनमें सम्राज्ञी बनकर बैठी ! किन्तु उन कमनीय स्वप्नों में से एक भी सत्य न हो सका।

चन्द्र—मैं राजभवन में रहती थी, किन्तु मुझे प्रत्येक क्षण यह अनुभव करने पर मजबूर किया जाता कि मैं एक नायक की पुत्री हूँ! एक निम्न जाति के सैनिक की पुत्री !!

महा०—जितना आदर-सम्मान तुम्हारे पिता को प्राप्त था, उतना तो शायद स्वयं राजकुल के अधिकारियों को भी नहीं था।

चन्द्र—इसका कारण भी आप जानते ही होंगे...उसका आदर इस लिए किया जाता था, क्योंकि उस सिंह-सदृश योद्धा के होते कोई भी शत्रु उत्कल की ओर दृष्टि न उठा सकता था क्योंकि वह वीर सदैव उत्कल-नरेश के जगमगाते सिंहासन को उलटने से बचा लेता था।

महा०—इसमें क्या सन्देह है, उससे बड़ा सेनानायक हमारे देश में कभी नहीं हुआ। महाराज आज तक हमें उनके रणकौशल और नीति-संयोजना का अनुसरण करने की अनुमति देते हैं।

चन्द्र—(कटु होकर) यह कहाँ का न्याय है, कि जब आग में कूदना हो तो इन्हीं निम्न जाति के वीरों को बुलावा मिलता है, अहंकारी नरेश और जाति-अभिमान करने वाले राजकुमार तब कहाँ चले जाते हैं, अपने वर्ण की शुद्धता को सिद्ध करने के लिए वे रणभूमि में क्यों नहीं आते ?

महा०—चन्द्र मल्लिका। आज कैसी बातें ले बैठी हो।

चन्द्र—महाराज सच कहिए, क्या मैं राजकुमारी से कहीं अधिक लाख गुनी सुंदर नहीं हूँ।

महामन्त्री—निःसन्देह !

चन्द्र—(निराश होकर) किंतु मैंने किसी राजा के घर तो जन्म नहीं लिया था।

(दीर्घ निःश्वास खींच कर रह जाती है।)

महा०—(गंभीर भाव से) अपना-अपना भाग्य है, तुम्हें किस बात की कमी है ?

चन्द्र—आपकी कृपा से मैं किसी रानी से कम नहीं हूँ। मुझे मालूम था कि मैं राजकुमारी प्रणीति से अत्यधिक सुंदर हूँ। किंतु...मुझे स्मरण है महाराज, जब हम दोनों सरोवर में स्नान किया करती थीं तो मेरा स्फटिक-ऐसा शुभ्र शरीर देखकर उसकी आँखें झुक जाया करती थीं। मारे लज्जा के उसका मुख फीका पड़ जाता और वह एक ओर सरक जाया करती थी।

(महामन्त्री एक और पात्र भरते हैं।)

आप कुछ अधिक पी रहे हैं।

महा०—नहीं चन्द्रा ! तुम जैसी मधुबाला मिले तो सुध किसे रहती है। हां, तो......

चन्द्र—रसीली ज्योत्स्ना-स्नात रातों को वह प्रायः मुझ से पूछा करती थी – चन्द्रे ये कमल सदृश मदभरे नयन तूने कहाँ से पाये हैं? मैं केवल मुस्करा देती थी। मुझे अपने सौंदर्य का गर्व था, यौवन-मदिरा से छलकते हुए इन नयनों का। युवराज मुझे मृगनयनी कहा करते थे किंतु मैं उससे थोड़ी प्रशंसा से अधिक कुछ न पा सकी—

महा०—(चकित) चन्द्रमल्लिका ! इसका तुम्हारी कहानी से क्या संबंध है ?

चन्द्र—(भावावेश में आते हुए) मैं किसी राजा की कन्या नहीं थी। इसीलिए उसने मेरा अपमान किया, मेरा निरादर किया। बात-बात में उसने मुझे ठुकराना चाहा। मेरे पवित्र और निर्मल प्रेम को विषैला किया गया। एक दिन महाराज बोले, "शूद्राणी राजसिंहासन की ओर दृष्टि उठाते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती।' उस समय वे भूल गये कि चन्द्रमल्लिका उत्कल के सर्वश्रेष्ठ नायक की कन्या है, जिसने अनेक बार उत्कल-नरेश के कुल के लिए अपने प्राण संकट में डाले। (विकम्पित स्वर में) मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे मेरे पंख

नोच लिये गए हैं और मैं सहसा आकाश से धरती पर आ गिरी हूँ। जैसे एक सर्वांगीण पीड़ा मेरी नस-नस में उतर गई।

महा०—महाराज से मुझे यह आशा न थी।

चन्द्र—पर यही हुआ। मैं फूट-फूट कर रोई। मैंने अपने केशों के फूल नोच कर उनके चरणों में डाल दिये और उनसे प्रार्थना की कि वे मेरा सुख न छीनें, किन्तु उनका पाषाण-हृदय न पिघला।

महामंत्री—फिर ?

चन्द्र—उस समय मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं इस अपमान का प्रतिशोध लूँगी।

महामन्त्री—ऐसी प्रतिज्ञा मूर्खता है, बालपन की मूर्खता, पुरानी बातों को भुला देना ही अच्छा है प्रिये !

चन्द्र—(करुण स्वर में) मैंने बहुत चाहा कि मैं उन्हें भुला दूँ। परन्तु जो हृदय के अन्तस्तल पर अंकित हो चुका हो वह कैसे मिट सकता है ? मैं जब कभी अकेली बैठती हूँ, स्मृति के धुंधलकों से मानो चिंगारियाँ-सी मचल उठती हैं। बीती हुई घटनाएं पिशाचों की भाँति मेरे सम्मुख नाचने लगती हैं। और मैं व्यथित पक्षी की भाँति व्याकुल हो उठती हूँ।

महामंत्री—चन्द्रमल्लिका, तुम अकेली रहती ही क्यों हो ?

चन्द्र—(शीघ्रता से) बात अभी अधूरी है नाथ सुनियेगा।

महामंत्री—अवश्य।

चन्द्र—मैंने उसके लिये जीवन का सर्वस्व त्यागना चाहा किन्तु वह कायर था, अभिमानी था (दुःखी होकर) मैंने घाव पर घाव खाए हैं महाराज, मैं उसी रात से अंगारों पर लोट रही हूँ। मुझे एक पल भी शान्ति नहीं मिली। मैं अवश्य प्रतिशोध लूँगी।

महामंत्री—शान्त प्रिये !

चन्द्र—(भावनाओं को संयत करते हुए) उसी दिन से मैं विष की शीशी अपनी चोली में छिपाए-छिपाए महाराज की भोजनशाला के चारों ओर मंडराती रहती हूं।

महा०—होश में हो चन्द्रा !

चन्द्र—पर हर बार मेरी कायरता ने मुझे परास्त किया। मैं युद्ध न कर सकी।

महा०—चन्द्रमल्लिका, तुम जानती हो राजा की हत्या की कल्पना का अपराध ब्रह्महत्या से भी अधिक है।

चन्द्र—होता होगा (फिर भावावेश में आकर) मैंने प्रायः चाहा कि मैं किसी भी विधि द्वारा एक सूक्ष्म शरीर धारण करलूँ और इनके जीवन में प्रवेश कर जाऊँ। सजीव मृत्यु बन कर उनके सुख-मय जीवन में विष घोल दूँ।

महा०—चन्द्रा !

चन्द्र—और वे मेरे देखते ही देखते नीले होकर तड़पने लगें और मैं हंसूं जी भरकर हंसूं।

महा०—चन्द्रा, क्या होगया है तुम्हें ?

चन्द्र—(भावावेश में) मैंने चाहा कि मेरा शरीर भले ही मिट जाये। मैं भस्म हो जाऊँ परन्तु मेरा क्रोध हलाहल बन कर उनकी नसों में उतर जाए। और फिर, राजसिंहासन पर मान वाले मेरे सामने सिसक-सिसक कर दम तोड़ दें।

महा०—(तीव्र स्वर में) आज ये कलुषित विचार तुम्हारे हृदय में कहाँसे आगये ?

चन्द्र—ये विचार कलुषित हैं प्राणाधार ?

महा०—तुम्हारे मात्सर्य ने मुझे चकित कर दिया है।

चन्द्र—मात्सर्य ? (तड़प कर) इसे मात्सर्य का नाम देकर मेरे घायल हृदय को और घायल न कीजिए नाथ ! मैं किसी की समृद्धि से प्लोषित नहीं हो सकती। मैं सैनिक की पुत्री हूँ।

महा०—यही तो मुझे चकित कर रहा है।

चन्द्र—पर अपमान सहन कर लेना मैंने नहीं सीखा है। आप वचन दे चुके हैं। अब यदि आप उससे मुक्त होना चाहें तो मैं

आपको बाध्य नहीं करूंगी। अपना प्रतिशोध लेने की सामर्थ्य मुझमें है।

महा०—तुम्हारी बातों ने मेरे चित्त में एक कौतूहल उत्पन्न कर दिया है, तनिक सोचने दो।

चन्द्र—(आवेग से) सोचने का समय कहाँ है नाथ ? इसी क्षण क्रिया की आवश्यकता है। सौभाग्य हमें पुकार रहा है।

महा०—मुझ से क्या चाहती हो ?

चन्द्र—उत्कल का राज्य !

महा०—तुम निश्चय ही विक्षिप्त प्रतीत होती हो।

चन्द्र—विजय हमें संकेत कर रही है नाथ ! सफलता हमारा मस्तक चूमने को आतुर है। केवल आप विलम्ब कर रहे हैं।

महा०—नहीं चन्द्रा, यह मूर्खता है, अपराध है। मुझे ऐसा राज्य नहीं चाहिए।

चन्द्र—किन्तु इसके बिना मेरा जीवन व्यर्थ है।

महा०—(शान्त भाव से) बुद्धिहीन न हो चन्द्रा, चिल्लाने से चाँद थोड़े ही मिल जाता है। संतुष्ट जीवन में विष क्यों घोलूँ ?

चन्द्र—(दृढ़ता पूर्वक) संतोष कायरता का दूसरा नाम है। पुरुषार्थी और उत्थानशील मानव क्या प्राप्त नहीं कर सकता ? यदि युवराज का राज-सिंहासन पर अधिकार है तो आप का क्यों नहीं।

महा०—इसके योग्य नहीं।

चन्द्र—(उत्तेजित होकर) योग्य नहीं ! (फिर नम्रता पूर्वक) मैं केवल इतना पूछती हूँ नाथ, कि आप में क्या नहीं है ? उत्कल के संपूर्ण राज्यशासन की बागडोर किसके हाथों में है ? बड़े-बड़े युद्ध किसने जीते हैं ? और आज शत्रु की असंख्य सेना का सामना कौन कर रहा है ? राजकुमार सिंहासन का अधिकारी है, केवल इसलिए कि उसने एक राजा के घर जन्म लिया है !

महा०—कुछ भी हो मुझसे यह न होगा, यह असम्भव है।

चन्द्र—संसार में कुछ असंभव नहीं, और मेरे लिए !

महा०—यह अपराध है। मेरी आत्मा मुझे कोसती है।

चन्द्र—आत्मा ? क्या मेरी आत्मा नहीं ? यह आपका भय है महाराज ।

महा०—मुझे महाराज मत कहो।

चन्द्र—(तीव्र स्वर में) तो आप कायर हैं।

महा०—मैं कायर ?

चन्द्र—(उपेक्षा से, उसका उत्तर ही नहीं देती) यदि मैं स्त्री न होती तो अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये हिमालय से टकरा जाती। (फिर स्नेह पूर्वक) अपनी महानता को कौन जानता है नाथ, आपकी शक्ति की साक्षी मैं हूँ। योग्यता क्या है, अपने साहस और विश्वास की प्रतिच्छाया ।

महा०—तुझे निश्चय ही कुछ हो गया है।

चन्द्र—हाँ महाराज, आज मुझे कुछ हो गया है। क्योंकि आज मुझे विश्वास है कि सृष्टि की कोई शक्ति भी मुझे उद्गमन से नहीं रोक सकती।

महा०—मुझे सोचने दो चन्द्रा।

चन्द्र—फिर वही सोच, स्वर्णिम घड़ी टल जाएगी, और (फिर वेग से) मैंने सब प्रबन्ध कर लिया है। इस समय मेघागमन के कारण शत्रु-सेना उत्साहहीन हो चुकी है, यदि आप उनसे संधि कर लें तो वे युद्ध के समाप्त होते ही सर्व सत्ता आपको सौंप देंगे।

महा०—क्षत्रिय के लिये ऐसा विचार अपराध है।

(एक प्रहरी का प्रवेश)

प्रहरी (?)—महामन्त्री महाराज की जय हो !

महा०—क्या है ?

प्रहरी (?)—महाराज ने इसी समय बुलाया है।

चन्द्र—क्यों, क्या बात है ?

महा०—कुशल तो है ?

प्रहरी(?)—महाराज को शत्रु के एक षडयंत्र का पता चला है।

चन्द्र—कैसा षडयंत्र ?

प्रहरी (१)—शत्रु से मिल कर देश-द्रोह करने का।

महा०—अच्छा चन्द्रा मैं चला।

चन्द्र—जाने से पहले कुछ बताते जाइए महाराज !

महा०—मैं अभी आया चन्द्रा।

चन्द्र—सच !! कौन है वह जिसने इस कुत्सित षड्यंत्र का सूत्रपात किया है। उसे कड़ा दण्ड मिलना चाहिए।

[महामन्त्री सन्देह की दृष्टि से चन्द्र को देखते हैं फिर कृपाण आदि बाँध कर उठ खड़े होते हैं]

(शीघ्रता से प्रस्थान)

चन्द्र—[स्वगत] हे मृत्युंजय, क्या इस बार भी मैं विफल रहूँगी ? (शंकित)महाराज को पता चल गया है। कहीं वह व्यक्ति शत्रु-सेनापति ही तो नहीं था, कदाचित् वही हो। परन्तु उसे तो मैंने गुप्त-द्वार से आने को कहा था, वह उद्यान वाले मार्ग....। [अत्यंत व्याकुल होकर इधर उधर घूमने लगती है] प्रहरी !

(दूसरे प्रहरी का प्रवेश)

प्रहरी (२)—आज्ञा देवि !

चन्द्र०—कौन था वह दुस्साहसी जो हमारे उद्यान में आया था।

प्रहरी (२)—एक साधारण सैनिक था।

चन्द्र—शत्रु-सेना का गुप्तचर...।

प्रहरी (२)—कदाचित् वही हो। किन्तु अभी तक कुछ ज्ञात नहीं देवि !

चन्द्र—अच्छा जाओ (प्रहरी का प्रस्थान) अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हुआ कौन था वह जो काल-ग्रस्त होने के लिये उद्यान में आ निकला, कदाचित् वही हो। तो क्या मेरा हृदय धड़क रहा है ! महाप्रभो, मेरे हृदय में शक्ति का संचार करो। अपनी सेविका को दृढ़ता प्रदान करो...प्रहरी !

प्रहरी—आज्ञा हो देवी ?

चन्द्र—तुमने स्वयं देखा था उसे ?

प्रहरी—जी हाँ ?

चन्द्र—वह साधारण सैनिक ही था ?

प्रहरी—जी हाँ एक साधारण सैनिक ही था ? वेप भूषा से यही प्रतीत होता था...उसके पास शस्त्र कोई नहीं था।

चन्द्र—बड़ा साहसी था, जो मृत्यु के मुँह में कूद पड़ा, और निशस्त्र ही (यह जानकर कि कहीं प्रहरी के हृदय में संदेह उत्पन्न हुआ हो) बात यह है कि जब से मैंने यह बात सुनी है मेरा हृदय बहुत भयभीत है जो शत्रु इतना दुस्साहस कर सकता है वह क्या नहीं कर सकता ? यह तो अच्छा हुआ कि महाराज की दृष्टि उस पर पड़ गई, नहीं तो......

प्रहरी—आप चिन्तायुक्त हों देवी। अब हमने समस्त प्राचीर के साथ-साथ सैनिक नियुक्त करा दिए हैं। दुर्गपति स्वयं देख-भाल कर रहे हैं।

चन्द्र—अच्छा जाओ पर सचेत रहना।

प्रहरी—आप चिन्ता न करें देवि। (प्रस्थान)

चन्द्र—हे भगवान्, क्या इस समय भी मैं विफल ही रहूँगी। नहीं नहीं, ऐसा कदापि नहीं होगा (बाहर देखते हुए) नक्षत्र एक एक करके ओझल होते जा रहे हैं। प्रातःकाल निकट है और...महाप्रभु...(पीछे से एक व्यक्ति प्रवेश करता है) कौन ?

सेनापति—प्रणाम देवि !

चन्द्र—(सहर्ष) ओह, आप आ गये...मैं तो अब बिल्कुल निराश हो चुकी थी। आप को किसी ने देखा तो नहीं ?

सेनापति—नहीं देवि ? इतना अंधकार है कि हाथ को हाथ नहीं सूझता।

चन्द्र—(आनन्द-विभोर होकर) इस घोर अंधकार में ही मेरी अनुतप्त आत्मा शान्ति पाती है (फिर सभय) आप किस मार्ग से आए ?

सेनापति—उद्यान वाले मार्ग से !

चन्द्र—उद्यान से ? आप उद्यान में से हो कर आये हैं।

सेनापति—आप आश्वस्त हों देवि ! इतना भयभीत होने का कोई अवसर नहीं। योजना के अनुसार मैंने एक साधारण सैनिक को अपने आगे-आगे भेज दिया था। ज्यों-ही मुझे उसकी चीख सुनाई दी मैं वृक्षों के एक झुरमुट में छिप गया। और जैसे ही दुर्ग के मुख्य द्वार के सैनिक भाग कर इधर आए मैं उसी द्वार में से भीतर प्रवेश कर आया।

चन्द्र—पर आप गुप्त मार्ग से क्यों न आए ?

सेना०—मैंने योजना में यह परिवर्तन अनिवार्य समझा, पर आप इतना घबरा क्यों रही हैं ? सब ठीक हुआ है। और परिणाम भी अभीष्ट ही होगा...

चन्द्र—तो आप इतनी देर कहाँ रहे ?

सेनापति—आपने शयनागार ही में।

चन्द्र—हे भगवान् आप को किसी ने देख तो नहीं लिया होगा ?

सेना०—केवल एक व्यक्ति ने।

चन्द्र—हे महाप्रभो, कौन था वह ?

सेना०—आपका प्रहरी।

चन्द्र—फिर क्या होगा।

सेना०—आप कोई चिन्ता न करें देवि, मैंने उसे मौन कर दिया है।

चन्द्र—क्या भरोसा ?

सेना०—मैंने उसका अन्त कर दिया है देवि, आप आश्वस्त हों। चिन्ता का कोई कारण नहीं, आप भयभीत न हों।

चन्द्र—(दृढ़ता से) मैं भयभीत नहीं हूँ सेनापति। मैं स्त्री हूँ किन्तु अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए मैं शैलेन्द्र की भाँति दृढ़ और अटल हूँ। सावधानी की आवश्यकता है।

सेना०—आप ठीक कहती हैं ! हाँ, उस कार्य में सफलता हुई ?

चन्द्र—(नैराश्य भाव से) नहीं, वे नहीं, माने ?

सेना०—नहीं माने ? फिर...आपने क्या सोचा है ?

चन्द्र—अपने स्वार्थ के लिये मैंने आज एक अनहोनी बात करदी है।

सेना०—वह कौनसी ?

चन्द्र—चोरी......

सेना०—चोरी ?

चन्द्र—हाँ! वे बहुत महान् हैं सेनापति। अब मुझे अपनी नीचता का अनुभव हो रहा है। जब वे मेरे पास बैठे सोमरस पी रहे थे तो मैंने विस्फोटक-गृह के गुप्तद्वार की चाबियाँ निकाल ली थीं।

सेना०—(हर्षित होकर) तो लाइये देवि वे कहाँ हैं। आप भाग्यशालिनी हैं। हमारे महाराज आपको......

चन्द्र—(उपेक्षा से) हूँ, तुमने नहीं समझा सेनापति! चन्द्रमल्लिका धन-दौलत की भूखी नहीं......उसे किसी और ही वस्तु की आवश्यकता है।

सेना०—विजय होते ही.........

चन्द्र—(दांत पीसते हुए) मुझे अपना प्रतिशोध लेना है। यह लो दुर्ग के गुप्त द्वार की चाबियाँ।

सेना०—और विधि।

चन्द्र—आप अपनी सेना के एक भाग को दुर्ग के इस ओर आक्रमण करने का आदेश दीजिए और दूसरे को उपत्यका की ओर बढ़ने की आज्ञा दीजिए। वहाँ एक गुफा है जिसमें से एक संकीर्ण पथ आपको ठीक दुर्ग में ले जायेगा। विस्फोटक-गृह दुर्ग के पार्श्विक भाग में है...योजना के शेष विवरण से आप परिचित हैं ही।

सेना०—धन्यवाद देवि, विस्फोट होते ही हम दुर्ग में प्रविष्ट हो सकेंगे—और····

चन्द्र—उत्कल-सिंहासन डगमगाने लगेगा (आनन्दातिरेक) मैं प्रायः सोचा करती थी कि कभी मेरा अनुतप्त हृदय भी शान्त हो सकेगा!

निदान मैं सफलता के इतने निकट आ पहुंची हूँ कि मुझे अच्छे-बुरे की भी पहचान नहीं रही।

सेना०—परन्तु !

चन्द्र—क्या आप को कोई शंका है ?

सेना०—नहीं देवि, मैं केवल यह सोच रहा था कि कहीं यह भेद समय से पहले····

चन्द्र—आप चिन्ता न करें सेनापति जाइये, समय न गंवाइये।

सेना०—एक और बात भी है, देवि।

चन्द्र—वह क्या ?

सेना०—आपको शीघ्र ही यह भवन छोड़ देना चाहिए।

चन्द्र— क्यों ?

सेना०—कदाचित् विस्फोट से आपके भवन की दीवारों को भी····

चन्द्र— (उद्वेग से) आप मेरी चिन्ता न कीजिए सेनापति ! जाइये समय न गंवाइए। कदाचित् कोई अनहोनी बात हो जाए और मैं विफल रह जाऊँ।

सेना०—आपकी सभी कामनाएं पूर्ण होंगी देवि ! अच्छा—

(प्रस्थान)

चन्द्र—ठहरिये सेनापति ! आप बाहर कैसे जायेंगे ?

सेना०—जैसे भीतर आया था।

चन्द्र—आप को ज्ञात नहीं कि उस घटना के पश्चात् प्राचीर के साथ-साथ सैनिक खड़े कर दिये गए हैं। आप....

सेना०—आप मेरी चिन्ता न कीजिए देवि ! मैं आपके प्रहरी के वस्त्रों का प्रयोग करूंगा। अच्छा, आज्ञा दीजिए।

चन्द्र—उमापति हमें सफलता का वरदान दें। सावधानी से काम लीजिएगा।

सेना०—मैंने सब प्रबन्ध कर रखा है देवि ! प्राचीर से थोड़ी दूर ही गुप्त द्वार के निकट मेरा सारथि मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा। बाहर निकलने की देर है।

चन्द्र, अच्छा। (प्रस्थान कर जाता है)

चन्द्र—महाप्रभो ! इस वार तो मुझे सफलता प्रदान करो और मेरे हृदय की अग्नि को शान्त करो।

(सेनापति के प्रस्थान करते ही चन्द्रमल्लिका अनुभव करती है कि उससे खड़ा नहीं रहा जाता। कुछ ही क्षणों के पश्चात् वह शय्या पर गिर जाती है। उसके हाथ अनायास ही अपने मस्तक पर जा रुकते हैं जिसपर इस समय पसीने की बूंदे चमक रही हैं। कुछ क्षण इस प्रकार शिथिल पड़े रहने के पश्चात् वह फिर उठ बैठती है और शयनागार में उद्विग्नता से टहलने लगती है। कभी वातायन से बाहर झांकती है। कभी पूर्वी द्वार से लगकर किसी की आहट सुनने की चेष्टा करती हैं। फिर कलश से एक पात्र भर कर गट गट पी जाती है। इतने में महामन्त्री प्रवेश करते हैं।)

महा०—चन्द्रमल्लिका, तुम सोई नहीं ?

चन्द्र—आज मेरी आंखों से नींद उड़ गई है।

महा०—वह क्यों ?

चन्द्र—प्रतीक्षा में किसको पलक लगती है !

महा०—किस की प्रतीक्षा कर रही हो ?

चन्द्र—एक विचित्र घटना की।

महा०—विचित्र घटना ?

चन्द्र—हां, प्राणाधार, आज वह होने वाला है जो कभी न हुआ था। जो कभी होता दिखाई न देता था।

महा०—(मुस्कराने की चेष्टा करते हुए) मेरी बुद्धि की परीक्षा ले रही हो।

चन्द्र—आज स्वयं मेरी परीक्षा ली जा रही है।

महा०—(उसे संदेह की दृष्टि से देखते हुए) तुमने पहेलियों में बातें करना कब से सीखा ?

चन्द्र—जब से मेरी कायरता ने मुझे सफलता से दूर रखना आरम्भ किया।

महा०—ओ हो, अभी तक भूली नहीं उस वहम को।

चन्द्र—घायल को घाव कभी भूलता है ?

महा०—(स्नेहपूर्वक) इतनी उद्विग्न क्यों हो चन्द्रमल्लिके ?

चन्द्र—नहीं तो। कदाचित् रतजगे के कारण

महा०—और यह रह रह कर बाहर क्या देख रही हो।

चन्द्र—शत्रु सेना का क्या समाचार है महाराज ?

महा०—आज तो पहले से भी अधिक विश्वस्त होते हैं। उनका आक्रमण प्रबलतर होता जा रहा है।

चन्द्र—और हमारी सेना ?

महा०—हमारी सेना भी भरपूर प्रतिघात कर रही है। किन्तु महाराज को संदेह है।

चन्द्र—(चौंक कर) सन्देह है, किस बात का ?

महा०—किन्तु मैंने उन्हें विश्वास दिलाया है कि ऐसा सम्भव नहीं हो सकता ?

चन्द्र—क्या सम्भव नहीं हो सकता ?

महा०—कि हमारे देश का कोई प्राणी शत्रु से मिलकर महाराज की राजसत्ता भंग करने का षडयंत्र रचे।

चन्द्र—(अपनी उद्विगनता पर क्षणिक विजय पाते हुए) क्यों नहीं हो सकता नाथ ! यही अवसर तो होते हैं कुछ कर सकने के। और हो सकता है कि····

महा०—(वेग से) मैं अपने देशवालों को भली भांति समझता हूँ चन्द्रमल्लिके ! उनमें कोई भी व्यक्ति इतना पतित और कलुषित नहीं जो ऐसी घड़ी में देशद्रोह का विचार मन में लाए। यदि एक-आध नायक शत्रु से मिल भी गया तो हमें उसकी ओर से चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यदि हम इस प्रकार जमे रहे तो मुझे विश्वास है कि शत्रु पराजित होगा।

चन्द्र—(ठहाका मार कर हंस देती है) पराजित···हा हा हा हा···

महा०—(चकित) तुम्हें क्या हुआ ? यह हर्ष कैसा ?

चन्द्र—(उन्मत-सी)-आज जब युग-युग से अविकसित पड़ी मेरी

हृदय-कलिका उन्मीलित होने लगी है तो हर्ष और आह्लाद स्वाभाविक ही है।

महा०—(स्तब्ध-सा) चन्द्रमल्लिके !

चन्द्र—आज जब प्रातःकाल होते ही सूर्य उदय होगा तो महाप्रभु का अद्भुत तांडव प्रारम्भ हो जायेगा। प्रलय, विनाश और संहार का नृत्य जिसकी प्रत्येक मुद्रा से धरती और आकाश हिल-हिल जायेंगे और तब मेरे अपमान का प्रतिशोध लिया जायेगा।

महा०—तुम्हें वास्तव में कुछ होगया है। विक्षिप्त होकर इस प्रकार अशुभ बातें बके जा रही हो (फिर स्नेह पूर्वक) तुम्हारा चित्त व्याकुल है चन्द्रमल्लिके। तनिक विश्राम करो। मुझे जाना है !

चन्द्र—(विस्मित सी) इस समय क्यों ?

महा०—हमारे सेनापति ने वीर गति पाई है और महाराज ने सेना का नेतृत्व मुझे सौंप दिया है। कल प्रातःकाल से पहले आक्रमण की योजना बनाई गई है।

चन्द्र०—(अनुरोध करते हुए) आप न जाइये महाराज।

महा०—क्यों ?

चन्द्र०—(अत्यंत व्याकुलता से) मेरा दिल बठा जाता है। मुझे इस अवस्था में छोड़ कर न जाइए।

महा०—सैनिक की पुत्री हो कर मुझे कर्तव्य-पालन से रोकती हो !

चन्द्र—हमारी सेना की दशा...

महा०—युद्ध केवल सेना से नहीं, साहस और विश्वास से जीते जाते हैं। चन्द्रा ! और हमारी सेना तो······

चन्द्र—अब वह कभी न जीत सकेगी महाराज ! विजय अब हमारी असम्भव है। अब उत्कल कदापि नहीं जीत सकता।

महा०—क्यों ?

चन्द्र—उत्कल पराजित हो चुका।

महा०—चन्द्रमल्लिका ऐसी अशुभ बातें प्रलापते तुम्हें लज्जा आनी चाहिए। अच्छा मैं चला ! प्रातः में देर ही कितनी रह गई है !

चन्द्र—अभी तो रोक रही हूँ आपको। (विह्वल स्वर में) प्राणाधार आपके भविष्य के लिए तो मैंने सब कुछ किया है····और आप··· नहीं, नहीं, आप नहीं जायेंगे। (महामन्त्री आगे बढ़ता है। वह उसके सामने आकर खड़ी हो जाती है।)

आप जा रहे हैं। मैं नहीं जाने दूंगी आपको!

महा०—(क्रोध से) मेरा पथ छोड़ दो मुझे तुम्हारी कायरता पर लज्जा आ रही है।

चन्द्र—उत्कल अब कदापि नहीं बचेगा। अच्छा आप केवल पौ फटने तक रुक जायें। (भावपूर्ण) आप तो मेरी एक मात्र आशा हैं इस संसार में···नहीं नहीं मैं आपको नहीं जाने दूंगी।

महा०—बात क्या है ? क्यों रुक जाऊँ पौ फटने तक····

चन्द्र—(याचना करते हुए) नाथ, मुझे आपके स्वभाव का ज्ञान था, इसलिए·······

महा०—क्या कह रही हो ?

चन्द०—जो कार्य आप से न हो सका वह मैंने कर दिया है।

महा०—क्या कर दिया तुम ने !

चन्द्र—यह षडयंत्र मैंने रचा है।

महा०—(स्तम्भित-सा) चन्द्रा।

चन्द्र—काश मैं विषकन्या बनकर ही अपना संकल्प पूरा कर सकती।

महा०—(आवेश में) नीच अपराधिन, मुझे तेरी मुखाकृति से घृणा होने लगी है! कुल कलंकिनी !

चन्द्र—(दृढ़ता से) मैंने अपना लक्ष्य पा लिया है। अब आप जो चाहें कर सकते हैं।

महा०—जिस राजवंश का नमक तुम्हारे सात कुल ने खाया उसे अपमानित होते देख सकोगी ? उसकी प्रजा का विनाश होते देख सकोगी !

चन्द्र—सरिता अंधी होती है। उसे छोर से क्या ? मुझे केवल उत्कल-नरेश का अभिमान चूर करना था।

महा०—ऐसा कभी नहीं होगा। देशद्रोहिणी तुझे न्याय का भय नहीं

चन्द्र—(दृढ़ता से) मुझे ईश्वर या मनुष्य किसी के न्याय का भय नहीं।

महा०—स्पर्द्धाग्नि में जलने वाली दुष्टे ! सिंहासन के लिये तूने यह षडयंत्र रचा है। उसे तू कभी न पा सकेगी।

चन्द्र—(गंभीर भाव से) अब मुझे राजसिंहासन की कोई परवाह नहीं। मुझे केवल प्रतिशोध लेना था, अपमान का।

महा०—जिस दीपक को हमारे शूरवीरों ने रक्त देकर जलाए रखा उसे एक नीच स्त्री के षडयंत्र ने बुझा दिया।

चन्द्र—नहीं नाथ ! जिस कार्य को अपूर्व सौंदर्य पूर्ण न कर सका, उसे एक निरीह नारी के दृढ़ संकल्प ने पूर्ण कर दिया।

महा०—मैं महाराज की आन पर आंच न आने दूंगा। (जाने लगता है) अब क्या हो सकता है। आप व्यर्थ अपना जीवन संकट में···

महा०—धिक्कार है ऐसे जीवन पर !

(नेपथ्य में भयानक विस्फोट का शब्द सुनाई देता है। वातायन में से दीख रहा आकाश क्षण भर के लिये रक्तरंजित हो जाता है। फिर ऊंची-ऊंची अग्नि-ज्वालायें ऊपर उठने लगती हैं।)

चारों ओर से ज्वालायें उठ रही हैं। चन्द्रमल्लिके निकल चलो !

चन्द्र—(दृढ़ता से) मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिये महाराज, आप अपने नीच अहंकारी राजा की रक्षा कीजिये।

महा०—चन्द्रमल्लिका, आओ मेरे साथ। (उसे खींच कर ले जाने की चेष्टा करता है)

चन्द्र—(भावावेश में) मुझे छोड़ दीजिए। मैं स्वयं एक ज्वाला हूँ जो भी मेरा स्पर्श करेगा भस्म हो जाएगा। मैं प्रलय हूँ, साक्षात् प्रलय !

(एक और विस्फोट होता है और दुर्ग-प्राचीर के गिरने का शब्द सुनाई देता है। उसके साथ विजयी जन-समूह का जय-जयकार और पराजित सेना का चीत्कार का स्वर उठता है)

महा०—चन्द्रा, आओ मेरे साथ।

चन्द्र— (अट्टहास) मैं उन्मत्त सरिता हूँ। मेरे प्रवाह में जो आएगा, वह नष्ट हो जायेगा। मैं प्रलय हूँ, साक्षात् प्रलय हा हा हा··· देखा महाराज, महाप्रभु का ताण्डव हा-हा-हा······

(चन्द्रमल्लिका निरन्तर हंसती जाती है। ज्वालाएं अब लपक-लपक कर भीतर को जाने लगी हैं! और अग्नि के तेज से दृश्य एक रक्तिम लालिमा में डूब जाता है। उसी के साथ-साथ यवनिका गिरती है।)

१२

पराधीनता की ओर

(श्री यश)

पात्र—परिचय

बाबा जी,
माँ जी,
राज,
दौलत,
किरपा,

पहला दृश्य

(देहात। गांव का एक कोना। साफ-सुथरा लेकिन साधारण कच्चा मकान। दीवारें लिपी-पुती। छोटे-से आंगन के ठीक मध्य में एक पीपल का पेड़ उगा है। दायें हाथ सफेद गाय बंधी है बांयें हाथ छप्पर के नीचे चौका। सामने तीन कमरे। एक आगे, दो पीछे। मामूली सामान। परन्तु प्रत्येक वस्तु कायदे से पड़ी है। पुराने ढंग के पलंग पर काढ़ी हुई चद्दर। छोटी तिपाई पर फूलदान। दीवार पर तीन-चार चित्र—कृष्ण, नानक, गांधी, और एक कोई नवयुवक। सरकण्डों के दो मूढे। एक कोने में लकड़ी के तख्ते पर कुछ किताबें भी हैं। पिछले दो कमरों में सामान पड़ा है।

गाय के अतिरिक्त कुल तीन प्राणी। चौके में रोटी बनाती एक युवती माथे पर बिंदी। मांग में सिंदूर। कलाइयों में एक-एक चूड़ी। चूल्हे की आग की तरह उसका रंग लाल है। पास ही पीढ़ी पर बैठी एक बुढ़िया, कपास से बिनौले अलग करती हुई। सफेद कपास की तरह उसके बाल सफेद हैं। और परे गाय की ओर मुँह किये एक बुड्ढा बुढ़ापे की अपेक्षा करता हुआ छोटे पायों वाली चारपाई पर लेटा है। बूढ़े के बोझ से चारपाई का तनाव ... गया है। उम्र के बोझ से बूढ़े की कमर झुक गई है।)

(*समय*—जब पश्चिम में सूर्य की लालिमा नष्ट हो जाती है और प्रकाश का स्थान अँधेरा लेने लगता है।

चूल्हे की आग एकाएक बुझ जाती है। युवती फूकें मारती है। धुआं फैलती है। युवती आँखें मलती है। बूढ़ा खांसता है। लेकिन आग नहीं जलती।)

माँ जी—(बुढ़िया) कितना ला-परवाह हो गया है किरपा आजकल। सौ बार कहा है, सूखी लकड़ियाँ देखकर काटा कर। गर्मियों के दिन तो हैं नहीं कि झट सूख जायें! लेकिन, उनका मन तो रहता है विलायत में दौलत के पास।

बाबा—(बूढ़ा) क्यों पड़ी रहती हो हर वक्त किरपे के पीछे! सात दिन लगातार बरसा है पानी। और वह भी इतने जोर का कि धरती की सातों तहें भीग गई। तब सूखी लकड़ी मिले कहाँ से? हिम्मत है लड़के की कि ले ही आता है! नहीं तो दस जमातें पढ़ के किसने लकड़ियाँ काटी हैं!

माँ जी—क्यों, दौलत नहीं करता था क्या यह सब काम? तेरहवीं में पढ़ता था; लेकिन क्या मजाल कि वह घर हो और कोई काम किसी और को करने दे। आखिर भाई तो उसी का है!

(युवती अभी भी फूकें मार रही है; लेकिन असफल। हवा के एक झोके के साथ धुआं मां जी तक पहुँचता है?)

माँ जी—इतनी हवा में भी आग नहीं जलती। भला पानी भी कभी जला है? उठ, बहूरानी! मैं जलाती हूँ आग। तू क्यों आँखें खराब करती है।

राज—(युवती) आंखें जैसी मेरी वैसी आपकी। और फिर जलना तो लकड़ियों ने है। जब तक गीली हैं, धुआँ ही छोड़ेंगी।

बाबा—बेटा, एक आँख गीली हो तो तन-बदन में धुआँ उठता है; जो समूची गीली हैं; वह जलें कैसे? गरीबी के दिन भी गीले होते हैं, उनमें गर्मी नहीं होती।

(किरपा लकड़ियों का एक गट्ठर कंधे पर रखे आता है। माथे पर पसीने की कुछ बूंदें। बाल बिखरे हुए। लेकिन प्रसन्न वदन।)

(राज अभी भी आग जलाने की असफल चेष्टा कर रही है।)

किरपा—(गट्ठा एक ओर पटकते हुए) तोबा! यह भी कोई देश है। दुनियां-भर जब उन्नति करते-करते सातवें आसमान पर पहुँच गई है; हमारा देश चौदहवीं शताब्दी की रूढ़ियों में फँसा है! लोग बटन दबा कर चूल्हा गर्म कर लेते हैं; लेकिन हमें लकड़ियाँ काटने से ही फुर्सत नहीं मिलती। (राज को आँखें मलते देखकर) देखो न भाभी की ओर! यह हालत है भारत की स्त्रियों की! दिन भर चौके-चूल्हे से ही छुट्टी नहीं मिलती। इस धुएँ में कब तक आँखों का पानी बना रह सकता है!

माँ जी—भाग्य की बात है, बेटा! जैसे बने, वैसे ही गुजारा करना पड़ता है। ऊँचे महल देखकर टक्कर मारी है कभी किसी ने?

किरपा—टक्कर तो नहीं मारी, लेकिन वैसा महल बनाने की कोशिश तो की है! जब विज्ञान ने उन्नति नहीं की थी, तब तो माना कि आदमी लकड़ियाँ काटा करे और औरतें धुएँ से उलझा करें। लेकिन जब वैज्ञानिकों ने बिजली पैदा करदी, बिजली के चूल्हे बना दिये, तब क्यों हम पुरानी लकीरों को पीटते रहें? भाभी! सुनाया नहीं तुमने भैया का खत माँ जी को? ओह! कितना सुख है अंग्रेजों के देश में। झंझट ही नहीं। बटन दबाया, बिजली जल पड़ी। बटन दबाया, चूल्हा गर्म हो गया। बटन दबाया, और खाना तैयार। बिजली के टब में मैले बर्तन डाल दो, अपने आप साफ़ हो जायें। कपड़े भी इसी तरह धुल जाते हैं। जो काम हम दिनों में नहीं कर पाते, वह वहाँ आँख झप-कते हो जाते हैं। सच, विलायत तो स्वर्ग है!

बाबा—दूर के ढोल सुहावने होते हैं, बेटा! जो बरकत हाथ के काम में है, वह बिजली की कलों में नहीं!

किरपा—बस, यही तो दोष है हमारा। भारतीयों की प्रकृति में ही इतना रूढ़िवाद है कि हम उन्नति को भी संदेह की दृष्टि से देखते हैं। वास्तव में जड़ पदार्थों की पूजा करते-करते हम स्वयं जड़ हो गए हैं।

इतने जड़ कि परिवर्तन के नाम से भी घबराते हैं। बाबा ! कब तक हम उन्नति नहीं करेंगे, परिवर्तन का स्वागत नहीं करेंगे, समय के साथ नहीं बदलेंगे और नई चीजों को नहीं अपनायेंगे, तब तक हम चौके-चूल्हे और जंगलों के ही गुलाम रहेंगे। हमारा कभी विकास नहीं होगा।

बाबा—तेरा लहू गरम है, किरपे । गर्मी में चेतनता है। परिवर्तन की लालसा। लेकिन ठण्डे लहू में एक स्थिरता होती है। रेत परिवर्तन-शील है। चट्टान स्थिर। बच्चे रेत से खेलते हैं; लेकिन समझदार व्यक्ति चट्टान का सहारा लेते हैं। तुम रेत के महल बनाना चाहते हो, मैं चट्टान की ओट चाहता हूँ।

किरपा—ये रेत के महल नहीं हैं, बाबा ! ठोस वास्तविक तथ्य हैं। आप कई बार आ गये हैं शहर में। भैया के होस्टल में ठहरे हैं। क्या आपने वहां विज्ञान का चमत्कार नहीं देखा ? गर्मी हो तो पंखा चला लो, सर्दी हो तो हीटर जला लो। और इनमें कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती। केवल एक बटन दबाना पड़ता है। और बाबा ! भैया ने लिखा है कि अब ऐसे-ऐसे यन्त्र बन गये हैं जो आदमी की आज्ञा का पालन करते हैं। बटन दबाने की भी आवश्यकता नहीं रही। केवल कहने-भर से बत्ती जल पड़ती है !

बाबा—आदमी आलसी हो गया है, बेटा ! काम चोर ! मेहनत से जी कतराता है। विज्ञान ने उसे आलसी बनाने में मदद दी है। यह उन्नति के नहीं, अवनति के चिह्न हैं !

किरपा—अवनति कैसे बाबा ! पहले यदि हमें दस कोस भी जाना होता तो दिन लग जाता। लेकिन अब हजारों मील आदमी घंटों में चला जाता है ऐसे-ऐसे हवाई जहाज बने हैं, जो एक घंटे में पाँच-पाँच सौ मील उड़ते हैं ! यह उन्नति है या अवनति ? अपने खेतों को देखो ! बेचारा किसान दिन-भर खून-पसीना एक करके भी दो बीघे जमीन पर हल नहीं फेर सकता। लेकिन, विज्ञान ने हमें ट्रेक्टर बना कर दिये हैं। दिन में मीलों भूमि बीज डालने योग्य हो जाती है। हल चलाकर जिस धरती में सौ मन अनाज पैदा होता था।

उसी धरती से हज़ार मन नाज पैदा होता है। यह उन्नति है या अवनति ? कोई भी चीज देख लीजिए। असाध्य रोग साध्य हो गये हैं। तपेदिक का इलाज था किसी के पास ? स्ट्रेप्टो-माइसीन हमें विज्ञान ने दी, जिससे तपेदिक के मरते रोगियों को नवजीवन मिला। रेडियो टेलीवीजन, टेलीफोन, तार क्या यह अवनति के चिन्ह हैं ? बाबा ! विज्ञान हमें दैनिक चिन्ताओं के बन्धन से मुक्त कर रहा है। हम प्रकृति के बन्धनों को भी तोड़ रहे हैं। मनुष्य पहले प्रकृति का गुलाम था। अब प्रकृति मनुष्य की दास है। हम स्वाधीनता की ओर बढ़ रहे हैं।

बाबा—(मुस्कराते हुए) स्वाधीनता की ओर ! अल्लहड़ जवानी !

(चूल्हे में आग जल पड़ती है)

किपा—आप मेरी बातों को मजाक समझते हैं। जितनी मेहनत भाभी ने आग जलाने में की, इतनी मेहनत से तो सैंकड़ों आदमियों के लिये खाना बन सकता है।

बाबा—मेहनत का फल मीठा होता है।

किपा—लेकिन, आदमी निरर्थक मेहनत क्यों करे ?

माँ जी—तेरा तो रोज का यही झगड़ा रहता है, किरपे ! अंधेरा हो रहा है। उठ, । बत्ती जला दे !

राज—तुम करो बातें भैय्या ! मैं जला देती हूँ।

माँ जी—हाँ, कहीं बेचारे को और मेहनत न करनी पड़ जाय।

(राज लैंप जलाने कमरे में जाती है)

किरपा—मैं मेहनत से नहीं घबराता माँ जी ! मैं तो दलील की बात कहता हूँ। मुझे समझा दो। मैं मान जाऊँगा। अब देखो बत्ती जलानी है। पहले लालटेन उठाओ। चिमनी साफ करो। ढक्कन उतारो। तेल की बोतल उठाओ। तेल डालो। ढक्कन बन्द करो। कैंची लाओ। बत्ती काट कर साफ करो। चिमनी चढ़ाओ। माचिस लाओ। बत्ती जलाओ और लैम्प बन्द करो। तब जाके कहीं मद्धम-मद्धम-सी रोशनी टिमटिमाने लगती है। लेकिन दूसरी ओर बस बटन दबाने की देर है और सारे घर में प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है।

माँ जी—बात तो ठीक कहता है किरपा, क्यों जी ! उम्र घिस गई है मेरी लालटेन की चिमनी साफ करते-करते । और यह लालटेन अभी आई है, पहले तो सरसों के दीपक ही जलते थे । हवा का झोंका आया कि बस !

किरपा—(तनिक उत्साहित होकर) और अब मां जी बिजली के लाट्ट हैं कि आंधी आये, पानी आये, तूफान आये, चाहे प्रलय ही आ जाय, बुझ नहीं सकते । और फिर क्या यह एक बिजली की बत्ती तक ही बात है, मां जी ! हम कहते थे जानदार के सिवा और कोई बोल ही नहीं सकता । अब ग्रामोफोन के रिकार्ड बोलते हैं । न कोई औरत न आदमी और गाना सुनाई देने लगे । कितनी उन्नति की है मानव ने !

बाबा—उन्नति की इन बातों से तू अपनी माँ को ही बतला सकता है, मुझे नहीं । ग्रामोफोन के रिकार्डों में आवाज भर देने का महत्त्व क्या है ?

किरपा—महत्त्व ! विज्ञान ने मानव के स्वर को कुछ रेखाओं में जकड़ दिया है । पहले यह स्वर वायु में विलीन हो जाता था । और इससे विज्ञान ने सिद्ध किया है कि एक बार कही गई बात कहीं जाती नहीं, वायु में ही रहती है । अब वैज्ञानिक पुरानी आवाजों को पकड़ने की चेष्टा कर रहे हैं । जिस दिन यह हो गया, उस दिन हम गत इतिहास बनाने वालों के मुँह से सुनेंगे । आप कृष्ण भगवान् के मुखारविंद से गीता का उपदेश सुन सकेंगे । क्या वह दिन महान् नहीं होगा, क्या इसका कोई महत्त्व नहीं ?

बाबा—जिन्हें गीता को पढ़ के कोई लाभ नहीं हुआ, वे गीत । सुनकर भी क्या करेंगे ? केवल अहंकार से उनका मन और भर जायगा ।

किरपा—यह कोई दलील नहीं है, बाबा ! विज्ञान आपको एक उपयोगी वस्तु देता है ! आप इसका लाभ उठाएँ या न, विज्ञान को

इससे कोई सरोकार नहीं। विज्ञान आपको इन कानों से भगवान् कृष्ण की अमृतवाणी सुना देगा।

(राज लैंप जलाकर ले आती है।)

(आंगन में हल्का-हल्का प्रकाश हो जाता है)

गाँ जी—वत्ती की लौ की सौगन्ध, किरपे! क्या तू सच कहता है हम इन कानों से भगवान् कृष्ण की वाणी सुन सकेंगे? क्या वह दिन मेरे जीते जी आ जायगा?

(बाबा मुस्कराते हैं और राज भी)

किरपा—दिन आए, क्या अन्तर है? हमारे देश के लोग इन वस्तुओं का उपयोग करने से परहेज करते हैं। यहाँ रेलगाड़ी बनी थी, तो लोगों ने महीनों इसकी यात्रा नहीं की। समुद्र पार जाना पाप समझते हैं। बस हमारी तो यह आदत है कि जो हो गया सो ठीक। परिवर्तन हमें खलता है। (थोड़ी देर रुक कर) मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ जब दौलत भैय्या विलायत से आई० सी० एस० बन के लौटेंगे और हम किसी शहर में रहते हुए विज्ञान की देनों का पूरा उपभोग कर सकेंगे। क्यों भाभी?

(राज कनखियों से किरपे की ओर देखती है और होठों में आनन्द की रेखा दबा लेती है। लेकिन, बोलने से झिझकती ......)

किरपा—और तब भाभी! तुम्हें न यों काम करना पड़ेगा और न यों झिझकना ही पड़ेगा। हम उन्नति करेंगे। स्वाधीनता की ओर बढ़ेंगे।

(बाबा लगातार मुस्कराते हैं।)

[शहर शहर की प्रमुख सड़क। सड़क के किनारे एक शानदार कोठी। कोठी के बाहर एक अति सुन्दर बागीचा! बागीचे के किनारे पड़े हुए बैंच। पोर्च में नई 'मास्टर ब्यूक' खड़ी है।

कोठ', वभिन्न प्रकार की बत्तियों से सजाई गई। कोठी की मुंडेर बिजली की कतारें। पेड़ों में बत्तियाँ। दरवाजों पर जगमग करते

हरे-पीले वल्व। सामने से दो बड़ी-बड़ी फ्लैश लाइट पड़ रही हैं

(कोठी का प्रत्येक कमरा साफ-सुथरा। आधुनिकतम ढंग से सजा हुआ। बड़े गोल कमरे में किसी छोटी-मोटी दावत का आयोजन हो रहा है। वैरे और वेटर प्लेटें आदि लगा रहे हैं।)

(चहल-पहल वहुत है।)

(राज एक कीमती साड़ी पहने उधर से इधर और इधर से उधर आ जा रही है। नौकरों को आदेश देती हुई।)

(एक नवयुक—लंबा, पतला। वारीक कटी हुई मूंछे। मुंह में सिगार। वहुत वढ़िया सिला हुआ सूट पहने। गोल कमरे में प्रवेश करता है।)

(समय। तब जब पूर्व से उदित सूर्य पश्चिम के क्षितिज में डूब चुका है)

दौलत (नवयुवक)—सब काम ठीक हो रहा है न नंदू!

नंदू—(नौकर) जी हाँ। ठीक वक्त पर आपको सब कुछ तैयार मिलेगा।

दौलत—बहुत अच्छा है! कृपा वावू आ गये कि नहीं?

[एक दरवाजे में किरपा प्रवेश करता है। हुलिया एक दम वदल गया है। वड़े भैया की तरह वढ़िया सूट पहने हुए। केवल मुंह में सिगार नहीं है।

[किरपे के पीछे-पीछे वावा और माँजी भी हैं।]

किरपा—ले आया भैया मैं इन्हें। माँ जी की तो वहुत इच्छा थी; लेकिन वावा मानते ही न थे। मैंने कहा, आपकी पोती का जन्म दिन है। तव जाके माने कहीं!

(दौलत सिगार नंदू को थमाकर वावा और माँजी के चरण छूने की कोशिश करता है]

वावा—जुगजुग जीओ बेटा!

माँजी—सुखी रहो! वहू कहाँ है मेरी?

दौलत—अन्दर जरा कुछ तैयारी कर रही है। आप भी चलिये। मुंह हाथ धोलें।

वावा—मुंह हाथ धोने की तो आवश्यकता नहीं। किरपा ऐसी अच्छी मोटर पर लाया कि धूल का कहीं निशान नहीं मिला।

किरपा—और अभी भी आप विज्ञान की इन महान् देनों का

उपयोग करने से झिझकते हैं। बाबा ! आप तो गाँव के उस झोंपड़े में ही पड़े रहते हैं। देखिये, भैया ने इस कोठी में कितनी अद्भुत चीजें जुटा दी हैं।

बाबा—बहुत अच्छी बात है बेटा। भगवान करे तुम इन चीजों को सदा भोगते रहो ! लेकिन मुझ बुड्ढे को कोई दिलचस्पी नहीं इनसे। मेरे लिए इतना ही बहुत है कि तुम दोनों भाई मजे में हो। जैसे चाहो, वैसे रहो।

[राज गोद में लगभग एक बरस के बच्चे को उठाये आती है। सिर से साड़ी सरक जाती है। सिर ढाँपती है]

[आगे बढ़कर सास-ससुर के पाँव छूती है।]

मां जी—दूधों नहाओ पूतों फलो बहूरानी ! जब तू इसे गाँव लाई थी तब से बहुत बदल गई है मेरी बिटिया !

बाबा—बदलने वाली जगह जो आ गई। (आशीर्वाद देते हुए) जीओ बेटी जीओ !

किरपा—बदलने वाली जगह आके आप भी बदलें, तब तो इस जगह की करामात समझूं !

दौलत—क्यों एक ही बात के पीछे पड़ जाते हो किरपा भाई सदा कच्ची मिट्टी बदलती है; पक्का घड़ा नहीं बदला करता। बाबा और हमारे काल में आकाश-पाताल का अन्तर है। हमारे दृष्टिकोण का अन्तर उसी अन्तर का प्रतिबिंब है।

बाबा—ठीक कहते हो दौलत बेटा ! जिसने सदा कुंये का पानी पिया हो, लाख साफ होने पर भी उसे नल का पानी अच्छा नहीं लगता, परन्तु मैं तो नल का पानी इसलिये पसंद नहीं करता कि नल के पानी के लिये हमें दूसरे का मुंह ताकना पड़ता है। कुंआँ हमारा अपना होता है। जब चाहो पानी निकाल लो।

किरपा—यह भी भला कोई बात है, बाबा ! जब पानी की आवश्यकता हो, नल खोलो और पानी हाजिर। कुंए से पानी निकालने के लिए बीस चीजों की अपेक्षा होती है !

बाबा—तू नहीं समझ सकता किरपे ! कच्ची मिट्टी पके घड़े की परिपक्वता को नहीं पहुंच सकती है !

किरपा—नहीं बाबा...।

दौलत—फिर कर लेना यह बहस । अभी इन्हें अन्दर बिठाओ और दूसरा काम-काज देखो ! समय कम है और मेहमान आने वाले हैं।

किरपा—आप चिंता न करें भैया ! यह शहर है, गाँव नहीं। जहाँ किसी को खाने पर बुलायें तो दस दिन पहले सामान जुटाना पड़ता है। मैंने शहर के बेहतरीन होटल को आज की दावत का काम सौंपा है। निचले कमरे में उनका सब सामान पहुँच चुका है बिजली की अनेकों मशीनें हैं । सब काम अपने-आप हो रहा है, खानसामे और बैरे आ गए हैं। ठीक समय पर वे सब कुछ परोस रहे हैं। मुन्नी का यह पहला जन्म दिन है। जब मुन्नी का बीसवाँ जन्म-दिन मनायेंगे तो इन खानसामों और बैरों की भी आवश्यकता नहीं रहेगी । अपने आप मेज सजायेंगे और बिजली की मशीनें उन पर खाना परोस देंगी !

दौलत—बहुत दूर के स्वप्न लेते हो किरपा भाई !

किरपा—यह स्वप्न नहीं है, भैया ! मैं उस दिन को अपनी आँखों के सामने देख रहा हूँ ।

(बाबा मुस्कराते हैं)

किरपा—मुझे पता है आप मेरी बातों की सदा हंसी उड़ाते हैं। परन्तु तनिक मेरे साथ चलिये ! मैं आपको विज्ञान का चमत्कार दिखाऊँ !

बाबा—(हंसते हुए) रहने दो बेटा ! क्या करूँगा मैं देख कर। बिन देखे ही मान लेता हूँ !

किरपा—यों नहीं होगा, बाबा ! आपको कुछ-न-कुछ देखना ही होगा (साथ वाले कमरे में जाता है और थोड़ी देर में कुछ सामान लिये लौटता है। सामान में से एक वस्तु उठाकर) यह देखिए, यह हैं बिजली

की प्रैस ! प्लग लगाओ और अपने आप गर्म हो जायगी ! लेकिन जलेगी कभी नहीं । यह देखते हैं, जब गर्मी इस दर्जे तक पहुंचेगी बिजली अपने आप बंद हो जायगी । परन्तु, जैसे ही ठण्डी होगी, बिजली स्वयमेव इसे गर्म कर देगी ! बताइये, सोलहवीं शताब्दी की लोहे की इस्तरियाँ इसका मुकाबिला कर सकती हैं ? (एक और वस्तु उठाकर) और यह देखिये ! बटन दबाओ इसमें से गर्म हवा निकलती है, बटन घुमा दो इसी में से ठण्डी हवा निकलने लगती है । यह बाल सुखाने के लिये है । गाँव में औरतें बाल सुखाने के लिये दिन भर धूप में बैठी रहती हैं काम न काज । परन्तु, अब ? (एक वस्तु और उठाकर) यह छोटी-सी पत्ती देखते हैं । इसे पानी में डाल दीजिए, पानी गर्म हो जायगा । (बारी-बारी से चीजों की ओर संकेत करते हुए) यह बिजली का रेजर है । ब्लेड की आवश्यकता न साबुन-ब्रुश की । यह चाय बनाने की केतली है, यह तवा है, यह पतीली है, यह टोस्ट बनाने के लिये है । लेकिन बाबा ! इनमें किसी भी चीज के नीचे आग जलाने की आवश्यकता नहीं । केवल बटन दबाओ और यह काम करने लगती हैं !

माँ जी—वाह वा बेटा ! हमारे समय में तो न बनी यह चीजें ! चूल्हा फूँकते-फूँकते मेरे बाल सफेद हो गये ।

[बाबा मुस्कराते हैं]

किरपा—यह तो बहुत मामूली चीजें हैं माँ जी ! अन्दर चल कर रसोई देखिए । सब कुछ बिजली का है । अब भाभी को कभी आँखें मलनी नहीं पड़तीं । धुएँ के मारे किसी का दम भी नहीं घुटता । मजे से आराम से सब चीजें तैयार हो जाती हैं । यह सब विज्ञान के कारण हुआ । अब हमें इन साधारण बातों की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं । हम इन बन्धनों से मुक्त हुए, रूढ़िवाद की दासता मिट गई । अब हम उन्नति और स्वाधीनता की ओर बढ़ रहे हैं !

बाबा—तेरी इन सब चीजों को काम करने के लिये शक्ति कहाँ से मिलती है ?

किरपा—बिजली से ।

बाबा—बिजली कहाँ से आती है ?

किरपा—बिजली के कारखाने से । हमारे शहर में बिजली का इतना बड़ा कारखाना लगा है कि एशिया भर में ऐसा कारखाना दूसरा नहीं ।

बाबा—बिजली कारखाने से आती है । और उससे चलती हैं तेरी यह चीजें (जोर से हँसता है)

किरपा—इसमें हँसने की क्या बात है, बाबा !

(बाबा फिर हँसते हैं । किरपा आश्चर्य चकित-सा कभी बाबा की ओर देखता है, और कभी भैया की ओर ।)

[हार्न की आवाज़ आती है ।]

दौलत—लो, मेहमान आ गये ।

[उठकर जाते हैं । और थोड़ी देर में एक स्त्री और एक पुरुष के साथ लौटते हैं । सब एक दूसरे को नमस्ते करते हैं....]

किरपा—ओह, मिस्टर चौपड़ा ! आइये, आइये ! क्या हाल है आप का ?

[राज नवागन्तुक स्त्री की ओर बढ़ती है और उसे एक सोफे पर बिठाती है ।]

नवागन्तुक—क्यों कैसी बीत रही है किरपा बाबू ? विज्ञान ने कितनी उन्नति की है !

दौलत—यही तो बहस चल रही थी अभी । बाबा से उलझ रहा था ! यह सामने सब चीजें बिखरी नहीं देखते हैं आप !

राज—किरपा का कहना है कि विज्ञान की इन देनों से हम स्वाधीनता की ओर बढ़े हैं; लेकिन बाबा नहीं मानते ।

किरपा—(जोश से) इन्हें एक दिन मानना ही होगा । सूर्य के प्रकाश से अधिक देर तक इन्कार नहीं किया जा सकता ।

बाबा—ठीक कहते हो बेटा ! हाथ-कंगन को आरसी क्या ?

[मोटर का हार्न फिर बजता है। दौलत फिर बाहर जाते हैं और कुछ और अतिथियों के साथ लौटते हैं। इस तरह धीरे-धीरे लगभग तीस-पैंतीस व्यक्ति जुट जाते हैं। सब आपस में बातें करते हैं। कहीं धीरे-धीरे, कहीं ऊँचे-ऊँचे।

दौलत—(घड़ी की ओर देखते हुए) अब काफ़ी समय हो गया है। यदि आपकी इजाजत हो तो आरम्भ किया जाय !

(सब ओर से हाँ-हाँ की ध्वनि आती है)

तो कृपा भाई ! आर्डर करो।

[किरपा बाहर जाता है। तभी एक-दम अंधेरा छा जाता है।]

आवाजें—यह क्या हुआ ? यह क्या हुआ ?

दौलत—किरपा भाई ! यह क्या हुआ बिजली को ?

किरपा—फ्यूज उड़ गया है शायद। मैं देखता हूँ।

आवाजें—ओह! गर्मी। पंखे बंद हो गये हैं।

दौलत—किरपा भाई ! जल्दी फ्यूज लगाओ। यहाँ गर्मी से दम घुटने लगा है।

[अंधेरे में लोगों के इधर-उधर हिलने की आवाजें आती हैं…]

दौलत—सब अपनी-अपनी जगह बैठे रहिये। कहीं टक्करें ही न हो जायें।

किरपा—(टार्च की रोशनी में आता है।) भैया ! हमारा फ्यूज नहीं उड़ा। सारे शहर की बिजली बन्द हो गई है। मैंने बिजली घर टेलीफ़ोन किया है। वे कहते हैं; दो चीजें लड़ते-लड़ते बड़ी तारों पर गिर पड़ी थीं। उससे शहर का बड़ा फ्यूज उड़ गया है। वे फ्यूज लगा रहे हैं।

बाबा—किरपा बेटा !

[किरपा टार्च की रोशनी बाबा के मुँह पर फेंकता है। बाबा मुस्करा रहे हैं।]

किरपा—(अपनी पराजय समझकर) यह कोई बात नहीं है बाबा ! अभी फ्यूज लग जायगा। अभी बिजली आयगी।

राज—बड़ी गर्मी हो रही है भैया ! जरा फिर टेलीफ़ोन तो करो। कितनी देर है अभी ?

दौलत—ठहरो मैं जाता हूँ। (थोड़ी देर में पलट कर आते हैं) ओह! बहुत बुरी बात हुई है। चीलों के तार पर गिरने से केवल फ्यूज ही नहीं उड़ा, अपितु कई तारें जल गई हैं। इनका असर बिजली की मशीनों पर भी हुआ है। चीफ़ इंजीनियर कहता है कि कम-से-कम तीन घंटे लगेंगे।

आवाजें—तब तक? तब तक?

और *आवाजें*—इतनी गर्मी में तो हमारा दम घुट जायगा।

बाबा—किरपा बेटा!

किरपा—(झुंझला कर) क्या बाबा।

बाबा—(हंसते हुए) वह अपनी मशीन चलाओ न जिससे कभी ठण्डी हवा निकलती है और कभी गरम। (जोर से हंसते हैं।)

दौलत—किरपा भाई! किसी गैस वाले को टेलीफ़ोन करो कि गैस दे जाय।

[किरपा जाकर थोड़ी देर में पलटता है]

किरपा—भैया! बिजली बंद होने से सब दुकानें बन्द हो गई हैं। कहीं टैलीफ़ोन कोई उठाता ही नहीं।

दौलत—तब? तब?

आवाजें—तो हम चलें मिस्टर दौलतराम!

दूसरी आवाज—चलें भी कैसे? सब ओर अंधेरा ही अंधेरा है।

बाबा—ठहरिये! मैं रोशनी का प्रबन्ध करता हूँ। (किरपा टार्च से रोशनी करता है। बाबा जाकर थोड़ी देर में लौटते हैं। उनके हाथ में एक कटोरी में बना दीपक है।) यह लो बेटा! अब महमानों को कुछ खिलाओ-पिलाओ।

किरपा—यह दीपक बाबा!

बाबा—हां बेटा! जिस शहर में एशिया का सबसे बड़ा कारखाना फेल हो जाय, वहां हमें तेल का दीपक ही प्रकाश कर सकता है।

दौलत—ठीक है किरपा भाई! ऐसे कुछ दीपक और बनालो और

बैरों को खाना परोसने के लिये कहो । (किरपा भैया के मुँह की ओर देखता है)क्यों क्या बात है ?

किरपा—लेकिन भैया ! बिजली बन्द हो गई है। बिजली के बिना खाना तैयार कैसे होगा ?

दौलत—क्यों ?

किरपा—अभी तो केवल सूप तैयार है। बाकी कोर्स तो साथ-साथ तैयार होने थे।

दौलत—ओह ! कम्बख्त बिजली को आज ही फेल होना था। (अतिथियों से) मैं बहुत लज्जित हूँ भाइयो !

अतिथि—इसमें आप का क्या दोष है मिस्टर दौलत ? लोहे के कल-पुर्जों पर किसी का क्या बस ? फिर कभी सही

दूसरा अतिथि—हां फिर सही ! बेबी कहां है ? हम उसे आशीर्वाद तो देते जायें।

(राज बेबी को आगे करती है, लोग उसे प्यार करके चले जाते हैं। कमरे में केवल बाबा, माँजी, दौलत, किरपा और राज रह जाते हैं।······)

बाबा—बिजली का चूल्हा, तावा, केतली और पतीली कहां हैं बेटा ! हमारी उन्नति के वे चिह्नकहां हैं ? देख, हम स्वाधीनता की ओर कितने बढ़े हैं ? विज्ञान ने कितनी उन्नति की है ? दो क्षुद्र चीलों ने एशिया का सब से बड़ा कारखाना निकम्मा कर दिया। (हंसते हैं)

किरपा—यह तो एक्सीडेंट है बाबा !

बाबा—हां एक्सीडेंट ! लेकिन, बताओ हम स्वाधीनता की ओर बढ़ रहे हैं या पराधीनता की ओर ?

रिहर्सल

(श्री मोहन 'राकेश')

पात्र-परिचय

जयराम	—कालेज थियेट्रिकल क्लब का सेक्रेटरी
जगदीश *केशव* *दयाल*	कालेज द्वारा खेले जाने वाले नाटक 'अञ्जना' के अभिनेता
सरला	—जयराम की पत्नी
मुन्नी	—जयराम की नन्हीं

स्थान—जयराम का ड्राइंगरूम ।

समय—जून की दोपहर ।

[न बहुत बड़ा, न बहुत छोटा कमरा । कमरे में बिछी हुई दरी कुर्सियाँ, एक टेबल । दो-एक तस्वीरें । एक जापानी कलैण्डर । मेज पर एक टाइमपीस, एक टेबलफैन । एक दरवाजा सामने की दीवार में घर के अन्दर खुलनेके लिये । दूसरा दरवाजा बाईं ओर, बाहर से आने के लिये ।]

(पर्दा उठने पर दूर से मुँह की सीटी बजने की आवाज, जयराम सीटी बजाता हुआ बाईं ओर से आता है ।)

जयराम—ओह ! मार डाला इस गर्मी ने । थियेट्रिकल क्लब का सेक्रेटरी बनना भी क्या आफत है ।...(टेबलफैन का प्लग लगाता है, पर पंखा नहीं चलता । निराश हो, कमीज पतलून से बाहर निकाल कर उसी से हवा करने लगता है ।)...एक पिउन तक नहीं । लोगों को खबर देते-देते बारह बज गए ।

(पीछे का दरवाजा 'खट्' से खोल कर सरला अन्दर आती है ।)

सरला—आ गए जी ! आज भी होटल में खा लिया होगा खाना ?

जयराम—नहीं नहीं, आज किसी दोस्त का जन्म-दिन थोड़े ही था ? बात यह थी कि...

सरला—अमुक की सगाई हुई थी। बहुत मना किया पर खिलाए बिना नहीं माने—यही या और कुछ ?

जयराम—बाबा बिल्कुल भूखे पेट हूँ। तुम तो आज खूब गरम हो। हुआ क्या है ?

सरला—हुआ क्या, दस बजे से इन्तजार करते-करते बारह बज गये, और खाना ठण्डा हो गया सो अलग।

जयराम—कोई बात नहीं। तुम भी मिजाज जरा ठण्डा करो। अब यह पंखा चलता नहीं, नहीं तो तुम्हें थोड़ी हवा दे देता।

सरला—बस बात ही करते हो। जिसे इस गर्मी में चूल्हे के आगे बैठना पड़ता है, वह तो तुम्हारे जाने पशु है।

जयराम—कैसी बातें करती हो ? तुम पशु हुई तो मैं क्या हुआ, बोलो ?...देखो आज बिजली चली गई, पंखा चलता नहीं, और अभी यहाँ होनी है रिहर्सल।

सरला—क्या होनी है ?

जयराम—रिहर्सल, रिहर्सल ! तुम नहीं समझती। तुम्हारे मतलब की बात भी नहीं। खाना लगा कर आवाज दो, दो कौर निगल लूँ।

सरला—क्या होगा, कौन आ जायेंगे, कुछ पता भी चले।

जयराम—कहा न, तुम्हारे मतलब की बात नहीं। अभी देखो...

(सीढ़ियों पर खट्खट् की आवाज) लो कोई आ भी गया। तुम अन्दर जाकर बैठो।

सरला—(माथे पर बल डालकर) और खाना ?

जयराम—खाना अब धरा रहने दो। समय मिला तो देख लूँगा जाओ ?

(सरला मुँह लटका कर अनमनी-सी अन्दर चली जाती है। जगदीश आता है—सफेद धोती और कुर्ते में)

जयराम—हल्लो जगदीश (हाथ मिलाते हुए) समय के वहुत पासन्द हो।

जगदीश—(कुर्सी पर बैठते हुए) मैं तो डर रहा था कि कहीं देर हो गई।

जयराम—नहीं, अभी बारह बजने में पाँच मिनट हैं।

जगदीश—तुम्हारी बात विल्कुल ठीक थी। कालेज में आज जलसे के कारण इतना शोर है कि वहाँ रिहर्सल हो ही नहीं सकती थी।

जयराम—इसीलिए तो मैंने यहाँ बुला लिया सब को।....अच्छा, पहले बताओ, तुम खाओ-पियोगे क्या ?

जगदीश—बस शुक्रिया। अभी-अभी मुर्गी और मटन के कोफते खा कर चला आ रहा हूँ। (पसीना पोंछते हुए) दयाल और केशव नहीं आए।

जयराम—अभी आ जायेंगे। तुम थोड़ी देर अखबार देखो, और मैं जरा (सीढ़ियों पर फिर खट्खट् की आवाज)...लो शायद वे आ गये।

जगदीश—वही दोनों हैं। मैं उनके पैरों की आवाज खूब पहचानता हूँ।

(केशव और दयाल दोनों हाथ में हाथ डाले आते हैं। केशव सफेद पेण्ट और कमीज पहने हैं। दयाल चुस्त पायजामा और शेरवानी पहने है। सब परस्पर हाथ मिलाते हैं।)

जगदीश—(अँगूठा और उँगली मिलाकर अदा के साथ) 'कहीं अल्लाह ने यह जोड़ी'—

केशव—(हँसते हुए) मालूम नहीं था श्रीमान् पहले से ही उपस्थित हैं।

जगदीश—जी, स्वागत करना तो सेवक का फर्ज है। रास्ते में आँखें बिछा रखी थीं।

(सब बैठ जाते हैं)

केशव—रास्ते में मत बिछाया करो, जरा मैली हो गई तो धुलाई भी नहीं होने की।

दयाल—(नजाकत से पैर सहला कर) यह सेक्रेटरी साहब का मकान कम्बख्त इतनी दूर है कि आते-आते साइकल ने भी पाँव छील दिए।

जगदीश—क्या कहने हैं! बीमा करा लीजिए न पैरों का।

जयराम—अरे दोस्त, आखिर नायिका का पाठ करना कोई मजाक नहीं। यह नजाकत रंग लाएगी।

जगदीश—हमारे लिये खाक लाएगी। मुबारक हो केशव को जिसे नायक बनना है।

केशव—क्षमा हो! इसी नायकत्व के कारण आज जूते खाते-खाते रह गया।

जगदीश—बड़ा अफसोस है। किस क्वालिटी के जूते थे।

केशव—यह तो परमात्मा जानता है। तीसरे सीन में मेरे जो वाक्य हैं, उन्हें सवेरे बाग में बैठा दोहरा रहा था। जब मेरे मुँह से निकला—'काश तुम जानतीं कि किसी के दिल पर क्या गुजर रही है, तो पीछे से एक देवी जी अचानक चमक पड़ीं। बोलीं, 'बदमाश! इडियट!'

(सब हँसते हैं।)

केशव—खैर, यह हुई कि कोई आस-पास था नहीं और हम दुम दबाए चले आये, नहीं तो टूटा बाजू और लँगड़ी टाँग लिये घूमते।

जयराम—देखो भाई देर हो रही है। अब हमें काम शुरू कर देना चाहिए।

दयाल—पर मैं तो सीधा खाना खाकर ही चला आ रहा हूँ। कुछ देर सुस्ता लूँ, तभी काम हो सकेगा।

जयराम—हमने खाना नहीं खाया क्या? पर काम तो करना ही है। क्यों केशव?

केशव—सेक्रेटरी साहब, यह पंखा-वंखा नहीं चलता? कितनी

तारीफ करते थे कि हमारा कमरा हवादार है, यह है, वह है। पर यहाँ तो मारे गरमी के मरे जा रहे हैं।

जगदीश—बेशक हवादार हैं। जब हम आये थे, तो बराबर हवा आ रही थी। पर मालूम होता है कि पुराने जमाने का होने की वजह से कुछ हवादार भी है। इतने आदमियों को एक-साथ देखकर बेचारा गुमसुम-सा हो गया है।

जयराम—साहब, बिजली समय पर धोखा दे दे, तो मैं क्या करूँ, और बेचारा पंखा क्या करे ? अब धैर्य्य से काम लीजिए। यहाँ यूँ ही एक बजा जा रहा है।

केशव—मेरा विचार है पहले थोड़ा दिमाग ठण्डा हो जाय।

जगदीश—भले आदमी, दिमाग की गर्मी उतरते-उतरते ही उतरेगी।

जयराम—देखो बात यह है कि आज मुझे थोड़ा और भी काम है। जहाँ तक हो सके, जल्दी ही खाली हो जाना चाहिए।

केशव—तो मना कौन करता है ? शुरू कीजिए।

(दयाल अब तक कुर्सी की पीठ से टेक लगाकर ऊँघने लगा है।)

केशव—(दयाल को हिलाकर) दयाल ! (जयराम से) यह तो सचमुच नींद का शिकार हुआ जा रहा है। (शरारत भरी आवाज में दयाल से)—उठो मिस अञ्जना ! मेरी रानी अञ्जना।

दयाल—(स्त्रियों जैसी आवाज में) नहीं, आप पिता जी से पूछिये। मैं उनकी आज्ञा के बिना कुछ नहीं कर सकती।

(सब हँसते हैं।)

दयाल—(अचकचा कर जागने का अभिनय करते हुए) क्यों क्या हुआ जी ?

जगदीश—कुछ नहीं बेटी ! जरा जाग कर अभिनय करो।

जयराम—एक से चारतक दृश्यों की रिहर्सल तो कई बार हो चुकी। आज पाँचवें दृश्य से शुरू करेंगे।

(ड्राअर खोलकर साड़ी निकालता है।)

—(दयाल से) तुम यह साड़ी बाँध लो। (केशव से) तुम अपने इन्हीं कपड़ों में अभिनय कर सकते हो।

(दयाल उठकर साड़ी बांधने लगता है। साड़ी शेरवानी में उलझ जाती है। वह कठिनता से शेरवानी उतार कर साड़ी ठीक करता है।)

जगदीश—नर-नारी का भेद क्या, कह गए भगत कबीर!

जयराम—बस बस, क्यों बेचारे कबीर की आत्मा को कष्ट देते हो? काम होने दो। (रुक कर) अब शुरू करो। तुम कुरसी जरा निकट कर लो केशव!—बस ठीक है। तैयार।

केशव—(कुछ खाँसकर) 'चलो, अञ्जना! इस दुनियाँ से दूर—,

दयाल—(बाहें और टाँगें फलाकर अँगड़ाई और जम्हाई लेते हुए) अभी नींद का खुमार भी दूर नहीं हुआ।

जयराम—क्या करते हो दयाल?

दयाल—मेरे बस की बात नहीं साहब! वह तुम्हारी जल्दबाजी का फल है। जरा ऊँघ लेने देते!

जयराम—अब समय मत गँवाओ। तुम बोलो केशव!

केशव—(फिर कुछ खाँस कर)—'जहाँ हमारे शरीर और मन हवा की हिलोरों और जल लहरियों में खो जाया करें। हम भावनाओं में तेरें, चंद्रकिरणों के साथ मुस्कराएँ और ओस के साथ सिहरा करें।'

दयाल—मु-मु-के-ए-ए—

जयराम—अरे भई, सिसकियाँ भी तो लो साथ।

दयाल—यह किताब में कहाँ लिखा है? खैर (सिसकते हुए) '-मु-मुझे-ए-ए-भू-अ-ल-जा-ओ-ओ......'

केशव—'भूल कैसे जाऊँ अञ्जना? आकाश और पृथ्वी में कितना अंतर है? पर क्षितिज के पास जाकर आकाश भी पृथ्वी को पा लेता है। क्या इसी तरह क्षितिज के किसी कोण में हम दोनों नहीं मिल सकते?'

दयाल—'किशो-ओ-ओ-' (स्त्री की तरह रोने का अभिनय करता है। आवाज कुछ मोटी निकल पड़ती है।)

केशव—धत्तेरे की। तुम्हें किसी ने रोना भी नहीं सिखाया!

दयाल—तुम्हीं जरा रोकर दिखा दो न।

जयराम—भई अभिनय करो क्या करते हो ?

केशव—(जैसे मजबूर होकर) '—क्या तुम यह सह लोगी अञ्जना, कि तुम्हारा पिता उस शराबी देवदास के साथ तुम्हारा व्याह कर दे ? रो रो कर जान न दो अंजना ! (दयाल की ठुड्डी को हाथ से ऊपर उठाते हुए) तुम्हारे इन गोरे मुलायम गालों पर ये आँसू—(एकदम चीख कर हाथ खींचते हुए) उफ्-अ।'

जयराम—क्यों क्या हुआ ?

केशव—हाथों में काँटे गड़ गये, और क्या ? कम्बख्त चला है नायिका बनने। सात दिन से शायद शेव ही नहीं की।

दयाल—वाह ! कल ही तो शेव की है।

केशव—खाक की है। जरा और हाथ रगड़ जाता तो लहू निकल आता। परमात्मा बचाए इस प्रेम से।

जयराम—क्या कर रहे हो केशव ? काम जल्दी पूरा होना चाहिए। मैंने तो खाना (जबान काटकर) जरा ज्यादा ही खा लिया है। (हाथ से पेट को दबाता है।)

केशव—अब तो मिस अंजना बोलेंगी।

दयाल—(सिसकते हुए) 'भूल जा-आ-आ-ओ कि-इ-शोर !'

केशव—'अंजना, यदि हृदय चीर कर दिखाया जा सकता तो तुम देखती—' (जयराम को फिर पेट दबाते देख कर) सेक्रेटरी साहब ! पेट में दर्द हो रहा है ?

जयराम—कुछ भी तो नहीं। तुम काम मत बिगाड़ो।

केशव—'—तो तुम देखती कि तुम्हारे लिये-' (जयराम से) सेक्रेटरी साहब, थोड़ा-सा चूरन खा लो।

जयराम—केशव, मैं कहता हूँ दो बजे से पहले हमें खाली हो जाना चाहिये।

(जगदीश अब तक ऊंघ कर खर्राटे लेने लगा है।)

केशव—'अञ्जना, अपना और मेरा जीवन मत बिगाड़ो। स्वयं आंखें खोल कर देखो—' (जगदीश को ऊंघते देख कर) लो तुम्हारे पिता जी को नींद आ गई। बाकी नाटक कल।

जयराम—छोड़ो केशव, तुम आज मूड में नहीं हो। हम अगले दृश्य की रिहर्सल करते हैं।

केशव—पर पहले जगदीश को तो जगा लो। वह तो दृश्य ही अंजना के पिता का है।

जयराम—जगदीश! (कन्धा पकड़ कर हिलाते हुए) जगदीश!

जगदीश—(हड़बड़ा कर) अरे भूचाल आ गया क्या? इतना चीख क्यों रहे हो?

जयराम—महाशय, रिहर्सल करने आये हो या नींद लेने?

जगदीश—क्यों, रिहर्सल करने वालों को नींद लेने की मनाही है क्या? यहाँ सपने में ब्याह होने जा रहा था, एक आवाज ने सारा खेल बिगाड़ दिया।

केशव—अरे, अपना ब्याह फिर करा लेना। पहले अपनी बेटी का ब्याह तो रोको।

जगदीश—(कृत्रिम ठण्डी साँस लेकर) अच्छा भई, लाओ कहाँ है मूँछ दाढ़ी?

(जयराम उठ कर ड्राअर से मूँछ दाढ़ी इत्यादि निकालता है।)

जयराम—यह लो! काम जल्दी-जल्दी होना चाहिए।

जगदीश—मिनटों में?

जयराम—हाँ मिनटों में?

(जगदीश दाड़ी बाँधते हुए हँसता है। फिर किसी तरह हँसी दबाता है।)

जगदीश—(दयाल को लक्षित कर) तुमने अपना विचार बदल लिया न बेटी?

जयराम—सब के सब एक ही रोग के शिकार हैं। अरे बाबा, तुम्हें ... से प्रवेश करना है।

जगदीश--फिर काम मिनटों में कैसे होगा ? अब बोलने दो अंजना को।

दयाल--(मुस्कराहट दबाकर) 'मुझे क्षमा कीजिए पिता जी ! मैं--'

जगदीश--'अब भी तेरा वही हठ है री ? मेरी सफ़ेद दाढ़ी का तुझे कुछ भी विचार नहीं ?'

(हाथ से दाढ़ी को छूता है। वह सरक जाती है।)

दयाल--इसे ठीक तरह से बाँधो, नहीं तो गिर पड़ेगी।

जगदीश--यहाँ कौन देखने वाला है ? हाँ, देखो बेटी मैं देवदास को वचन, इत्यादि, इत्यादि।

जयराम--(हताश होकर) अब यह क्या है ?

जगदीश--याद तो मुझे सारा है, पर मिनटों में समाप्त करना है न। चलो बोलो अंजना।

दयाल--(सिर मुस्कराहट दबाते हुए) 'पिता जी, मैं देवदास को कभी नहीं, इत्यादि-इत्यादि।

जगदीश--(ऊँची आवाज़ में) 'मैं कहता हूँ तुझे यह पता होना—' इत्यादि, इत्यादि।

दयाल--'क्षमा कीजिये मैं आपसे' इत्यादि इत्यादि।

जगदीश--(और भी गरजकर) 'चुप रह पिता जी की आज्ञा...'

केशव--इत्यादि इत्यादि--और समाप्त।

जगदीश--(पसीना पोंछते हुए साधारण स्वर में जयराम से) लो, क्या मैं और क्या मेरी सूझ ! मिनटों में समाप्त करके रख दिया।

।दो।

केशव--(हँसते हुए) क्या बात है ! मंच पर जहाँ भी कहीं कुछ भूला, वहीं मैं रामबाण 'इत्यादि इत्यादि' जोड़ दूँगा। क्या सूझ है। अब सेक्रेटरी साहब देवदास बनो।

यराम--काम को मैं काम की तरह करना पसन्द करता हूँ (उठकर) तुम बाहर जाओ, दयाल !

(दयाल बाहर जाता है)

बस ठीक है। अब मैं अभिनय करता हूँ। (कुर्सी से उठकर इधर उधर देखते हुए) 'अरे कहाँ गई वह बन की चिड़िया? कित ढूँ—ढूँ? कित जाऊँ? लो लो लो लो? वह तो इधर ही आ रही है। अटकती-मटकती, लटकती।'

(दयाल अन्दर आता है।)

जयराम—(सामने आकर) 'अंजना'।

(पीछे का दरवाजा खुलता है। मुन्नी अन्दर से झाँकती है।)

मुन्नी—बाबू जी!

(जयराम आगे बढ़ता है। दयाल पीछे हटता है।)

जयराम—'जाओ, अंजना! तुम नहीं जानती कि मैं तुम्हारी कब से प्रतीक्षा कर रहा हूँ—'

(मुन्नी निकलकर बाहर आ जाती है और ताली बजाकर नाचने लगती है।)

मुन्नी—बाबू जी! बीबी जी!!

(जयराम मुन्नी को घूरता है।)

जयराम—(क्रोधावेश में मुन्नी से) तू क्यों आ मरी? चल अन्दर!

(अन्दर का दरवाजा खट से खुलता है। सरला घूँघट निकाले अन्दर से निकली है।)

सरला—(चमककर) भेज दो अन्दर! जहाँ माँ मरेगी, वहाँ यह भी मर जायेगी।

जयराम—(सटपटा कर) हुआ क्या है?

सरला—(रुँधे गले से) रहा ही क्या है? घर में यही कुछ करना था, तो ब्याह करने की क्या जरूरत थी? खाना पीना भूल-कर यहाँ राँडसैल करते हो?

(जगदीश और केशव परस्पर आँख से इशारा करते हैं। मुन्नी सिसकती हुई माँ के पास चली जाती है।)

जगदीश—(धीरे से) भूखेपेट राँडसैल!

सरला—(मुन्नी को पीटती हुई रोये से स्वर में) क्यों मरी तू यहाँ ? किससे पूछकर आई ?

जयराम—(घबरा कर) कुछ समझती भी हो ? अब तुम्हें क्या बताऊँ क्या है ?

सरला—बहाने की क्या जरूरत है ? मैं आज ही चली जाऊँगी माँ के घर······

केशव—(जयराम से) देखो मैं समझाता हूँ। (सरला से) सुनो भाभी, 'ये जो देवी जी हैं न, ये मेरी—नहीं— जगदीश की—नहीं सेक्रेटरी साहब की—

जयराम—क्या बकते हो ?

केशव—तो लीजिये, मैं चुप हो जाता हूँ।

(सरला मुन्नी को खींचकर अन्दर ले चलती है। दयाल जल्दी से अपनी साड़ी उतारता है।)

दयाल—भाभी, भाभी, इधर तो देखो।

(सरला बिना देखे अन्दर चली जाती है। दयाल साड़ी और शेरवानी उठा कर जयराम को खींचता हुआ अन्दर चलता है।)

दयाल—(जाते-जाते) ओ भाभी, जरा देखो तो सही !

(दोनों अन्दर चले जाते हैं। जगदीश और केशव हंसते हैं।)

पर्दा

१४

ऋष्य शृङ्ग

(श्री विपिनचन्द्र 'बन्धु')

पात्र-परिचय

ऋष्य शृङ्ग—ऋषिराज विभाण्डक सुत
विभाण्डक—तेजस्वी मुनि
गौतम—एक अनुभवी ऋषि
रोमपाद—अंगनरेश
महामन्त्री—अंगराज का
वीरवर—अंगराज का सेनाध्यक्ष ।
उर्वशी—राजनर्तकी ।
नेता—जनता का
द्वारपाल—अंगराज का
इत्यादि

(१)

(अङ्ग सीमोपवर्ती तपोवन का पवित्र भूभाग। पर्वतावलि की उपत्यका में महर्षि विभाण्डक का रम्य आश्रम ! आश्रम का प्रवेशद्वार उत्तर की ओर है जिस के ऊपर लताओं का एक अच्छा खासा कुंज बना है । द्वार से प्रवेश करते ही कोई पाँच-सात डग चलने पर दो हाथ ऊंचा चतुष्कोण एक चबूतरा है जो गोबर आदि से लिपा-पुता होने के कारण अत्यन्त निर्मल एवं सुन्दर है, और जिस के चारों ओर विविध लताओं का भव्य मंडप सा बना है । चबूतरे के पूर्व की ओर एक पर्णकुटीर है जिसका एक द्वार पश्चिम अर्थात् चबूतरे की ओर खुलता है और दूसरा दक्षिण की ओर। उत्तर की ओर एक गवाक्ष है जो बहुत ऊँचा नहीं, अतः उसे वातायन भी कह सकते हैं । दक्षिण की ओर वाले द्वार के बाहर कुछ उपले और समिधा रखी हैं। एक कोने में दुग्ध-

दुपल-पिष्टक, शूर्प रखे हैं और दूसरे कोने में मौञ्जी-रज्जु का एक पिण्ड धरा है। दक्षिण द्वार के सामने एक छोटी सी वाटिका है जिस में विभिन्न प्रकार के सुमन खिल रहे हैं। वाटिका के दक्षिण की ओर भी एक द्वार है। वाटिका में महर्षि विभाण्डक भगवत्-पूजार्थ कुसुम चयन कर रहे हैं।

समय प्रातः का है। उषा के संग ही बालार्क भी रेंगता हुआ आगे बढ़ रहा है। रातभर चलते रहने के कारण श्रांत समीर की गति मन्थर हो चली है। कभी-कभी कोई आलसी पक्षी अँगड़ाई के साथ-साथ कुछ अव्यक्त सी तान भर लेता है।

इसी समय उत्तर वाले द्वार से ऋषिवर गौतम प्रवेश करते हैं)

गौतम—(प्रवेश करते हुए) महर्षे विभाण्डक ! महर्षे विभाण्डक !!

विभाण्डक—(वाटिका में से ही) अहो ! गौतम जी ! आइये-आइये ! (समक्ष आ कर) नमस्कार ऋषिवर !

गौतम—नमस्कार ! नमस्कार !!

विभाण्डक—स्वागतं वो महाभागाः ! आइए, विराजिए ! कहिए, आज तो अपूर्व कृपा की ?—(चौपाल पर कुशासन बिछाते हुए) आइए, यहाँ बैठिए।

गौतम—(आसन पर बैठते हुए) हाँ, कई दिनों से दर्शन नहीं हुए, सोचा देखूँ तो भला—कुशल-पूर्वक तो हैं न ?

विभा०—जी हाँ, जगदीश्वर की कृपा है—

गौत०—वत्स ऋष्यश्रृङ्ग कैसा है, कहाँ है वह ?

विभा०—ठीक है, स्नान करने गया है बस आता ही होगा।

गौत०—तपोव्यस्त रहने के कारण स्वयं नहीं आ सकते तो उसी के द्वारा कुशल-क्षेम कहला भेजा करें !

विभा०—आप मेरे सिद्धांतों से परिचित तो हैं ही, फिर······

गौत०—कोरे सिद्धांतों से कुछ नहीं बना करता महर्षे ! मैं कहता हूँ अनुभव शून्य सिद्धांत सर्वथा व्यर्थ हैं। तनिक सोचिये, ऋष्यश्रृङ्ग अब पच्चीस-छब्बीस का हो चला है और इस विशाल संसार में वह केवल आपको ही जानता या पहचानता है; इस से········

विभा०—इससे यह होगा कि वह आजीवन ब्रह्मचारी रहेगा और मेरा सिद्धांत सफल होगा।

गौत०—आपकी यह धारणा भ्रांति मूलक है। आपने उसे जो कुछ भी पढ़ाया या सिखाया है वह सब सिद्धांत पर है। आपकी शिक्षा में अनुभव की गन्ध तक नहीं, ठीक है न?

विभा०—हाँ!

गौत०—तो मैं पूछता हूँ, ईश्वर न करे आज आपका निधन हो जाता है और आप के पश्चात उस ऋष्यशृंग को, जिसने नितांत अनुभवहीन शिक्षा ग्रहण की है इस विचित्र संसार में जीवन व्यतीत करना पड़ता है किन्तु वह अपनी शिक्षा के कारण ऐसा कर नहीं पाता, तब आपकी शिक्षा का क्या परिणाम होगा?

विभा०—मैं चाहता हूँ कि उसे विषय सुख का तनिक भी ज्ञान न होने दिया जाय—

गौत०—यह अभिलाषा भी कोई तर्क संगत नहीं, क्योंकि इस प्रकार से तो जिस दुर्ग की रक्षा की जाती है वह सहज ही में शत्रु के हाथ लग जाता है।—ऋष्यशृंग अब युवक है उसे सिद्धांत के साथ-साथ अनुभव की भी शिक्षा देनी चाहिये—अरे! छोड़िये, मैं भी क्या चर्चा ले बैठा हूँ?—तो अब आज्ञा दीजिये, चलूं?—

विभा०—अभी से ही?—कुछ कन्द, मूल तो खाकर जाइये, मैं लाता हूँ—

गौत०—नहीं मित्रवर! अभी मुझे जाकर तर्पण करना है। अच्छा तो नमस्कार!

विभा०—चलिये, मैं आप को वहाँ तक पहुँचा देता हूँ—आइये, इधर वाटिका द्वार से ही चले जाइयेगा—

गौत०—चलिए—(दोनों दक्षिण द्वार तक आते है) कभी आइये-उधर भी—

विभा०—अवश्य आऊँगा, नमस्कार!

गौत०—नमस्कार। (प्रस्थान)—

विभा० – (लौटकर चौपाल पर बैठते हुए) शिव ! शिव !! शिव !!!

ऋष्यशृङ्ग—(उत्तर द्वार से प्रवेश करके) प्रणाम पिता जी !

विभा०—तपस्वी भव !—स्नान-सन्ध्या से निवृत्त हो लिये ?

ऋष्य०—जी ।

विभा०—तो पुस्तक ले आओ—(बाईं ओर देखकर) अरे, यही तो रखी है पुस्यक !—लो बैठ जाओ—

ऋष्य०—(बैठते हुए) जी !

विभा०—हाँ, तो नचिकेता को अपने गुरु यमाचार्य से ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो गया। नचिकेता उस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हो गया, अमर हो गया।

ऋष्य०—जी।

विभा०—यदि कोई दूसरा भी मनुष्य इस ब्रह्म-विद्या का उपदेश ग्रहण करेगा, वह भी मुक्त हो जायगा; समझ गए ?

ऋष्य० –जी पिता जी ! (संकोच से) अ···पिता जी, मन में एक प्रश्न उठ रहा है–आज्ञा हो तो पूछूँ ?

विभा०—अवश्य पूछो बेटा !

ऋष्य—इस सृष्टि का रचयिता कौन है पिता जी ! ये प्रजाएँ किस से उत्पन्न होती हैं ?

विभा०—साधु ! बहुत सुन्दर प्रश्न है तुम्हारा। सुनो, प्रजापति ने इस सृष्टि की रचना की है। उग्र तप के पश्चात् उसने एक जोड़ा उत्पन्न किया जिसका नाम प्राण और रयि है।

ऋष्य०—(आश्चर्य से) प्राण और रयि ?

विभा०—हाँ, प्राण जीवन शक्ति का नाम है और रयि प्रकृति को कहते हैं।

ऋष्य०—तो इसका अर्थ यह हुआ कि जीवन और प्रकृति के मेल से इस सृष्टि का संभव हुआ !

विभा०—हाँ, और यह जोड़ा सृष्टि के प्रत्येक मंडल में विद्यमान है, जैसे सूर्य और चन्द्रमा। विना सूर्य के वनस्पति, मनुष्य, पशु-पक्षी

बहुत काल तक जीवित नहीं रह सकते, इसलिये सूर्य प्राण है। चन्द्रमा को प्रकाश सूर्य से मिलता है इसलिये चन्द्रमा उसकी रयि अर्थात् प्रकृति है। मास भी प्रजापति है। मास में दो पक्ष होते हैं एक शुक्ल और दूसरा कृष्ण।—शुक्ल पक्ष प्राण और कृष्ण पक्ष रयि है। जिस प्रकार इन दो पक्षों के मेल को ही मास कहते हैं—

ऋष्य०—जी!

विभा०—इसी प्रकार प्राण और रयि के मेल को सृष्टि कहते हैं—समझे?

ऋष्य०—समझ गया पिता जी!

विभा०—मनुष्य भी प्रजापति है इसमें पुरुष प्राण है और स्त्री रयि है—

ऋष्य०—पुरुष क्या?

विभा०—पुरुष? जैसे मैं, तुम पुरुष हैं—

ऋष्य०—और स्त्री?

विभा०—स्त्री?—स्त्री ···ई···ई (रुक जाता है)

ऋष्य०—पिता जी आप मौन क्यों हो गए?

विभा०—अ···· कुछ नहीं··· यूँ ही—

ऋष्य०—तो बताइये न, स्त्री क्या होता है?

विभा०—ऋष्य बेटा,— यह फिर कभी बताएँगे। आज का पाठ यहीं रखो। मुझे अभी सूर्योपस्थान आदि करना शेष है। तुम अपने पाठ की आवृत्ति करो, मैं नदी पर से होकर अभी आता हूँ—

(प्रस्थान)

---

(२)

(अंगनरेश रोमपाद का प्रासाद, जिसकी एक दिशा अर्थात् पश्चिम का कुछ अंश दिखाई दे रहा है। सामने बरामदा है जिसमें चार स्तम्भ लगे हैं। बरामदे की दोनों ओर दो बड़े गोलाकार प्रकोष्ठ हैं जिनकी एक-एक खिड़की स्पष्ट है दृष्टिपथ पर। बाईं खिड़की के किवाड़ अनावृत (उद्घा-

टित) हैं और दाईं के आवृत (अनुद्घाटित)। बरामदे में एक काष्ठमंच पड़ा है जिसपर कौशेयतल्प आस्तीर्ण है और दो-एक उपबर्ह रखे हैं। दो-एक वेत्रासन भी इधर-उधर रखे हैं। इसी बरामदे के सामने एक उद्यान है जिसके कोई-कोई पुष्प और किसलय परिकोट से कुछ ऊपर निकले हुए दिखाई दे रहे हैं। इस परिकोट के एक कोने में एक प्रवेश द्वार है जहाँ पर द्वारपाल खड़ा है।—)

नेता – (कुछ अनुयायियों के साथ बातें करता हुआ राजद्वार की ओर बढ़ता है) अंगदेश में इससे पहले ऐसा भयंकर दुर्भिक्ष कभी नहीं पड़ा। अनावृष्टि के कारण सब फसलें सूख गई हैं। जनता भूख और प्यास के कारण व्याकुल होकर प्राण दे रही है। पशुओं के भी कष्ट की सीमा नहीं रही। विद्वान् ब्राह्मणों एवं धर्माधिकारियों की अनुमति से यज्ञ इत्यादि भी करा चुके, परन्तु कुछ नहीं बना—शायद दैवी-प्रकोप बहुत उग्र है। भाइयो! प्रजा का अन्तिम सहारा राजा होता है जहाँ से कुछ दिन अधिक जीने की आशा मिल सकती है—सो हम यहाँ तक आ ही गए हैं। अब महाराज के कानों तक अपने कष्टों को पहुँचाना ही हमारे लिए हितकर होगा—(बरामदे के बाईं ओर वाले प्रकोष्ठ से निकल कर महाराज रोमपाद अपने अमात्य के साथ बरामदे में आकर खड़े हो जाते हैं) —अरे! महाराज तो स्वयमेव दर्शन देने आ गए, आओ निकट चलें— (निकट जाकर) अङ्गराज महाराज की जय हो!

रोमपाद—कल्याण हो। प्रजाजनो! यहाँ तक आने का कैसे कष्ट किया? कहिए, हम आप लोगों की क्या सेवा कर सकते हैं?

नेता—श्रीमान् को अपनी पुकार सुनाने आए हैं—

रोम०—निसङ्कोच होकर सुनाइए।

नेता—महाराज! अनावृष्टि के कारण महान् अकाल पड़ गया है, राज्य का हर प्राणी···

रोम०—समझ गया, समझ गया। अ···महामन्त्री! सुना आपने? हम कई दिनों से कह रहे हैं कि इसका कोई उपाय होना चाहिए किन्तु·······

महामन्त्री—महाराज की आज्ञा होते ही राज्य भर में यज्ञ तथा अनुष्ठान कराए गए, प्रयोग विठाये गए, पर····

रोम०—(कुछ आवेश में) आप नहीं जानते कि हम···· कि हम उसी क्षण से कितने चिन्तातुर हैं जिस क्षण हमें दुर्भिक्ष का पहला ही समाचार मिला था। प्रजा का कष्ट हमारा कष्ट है महामन्त्री !

महा०—महाराज का—

रोम०—धर्माध्यक्ष को तनिक बुलवा—

धर्माध्यक्ष—(प्रवेश करते हुए) महाराज की जय हो।

महा०—लीजिए, वे स्वयं आ गए।

रोम०—रोमपाद प्रणाम करता है।

धर्म०—धर्मवान् हो अङ्गराज !

रोम०—धर्माध्यक्ष जी ! राज्य में अकाल का प्रभाव बढ़ता ही जा रहा है—प्रजा सर्वथा पीड़ित हो रही है और प्रजा की चिन्ता से हम अत्यन्त चिन्तित हैं। कृपा करके कोई उपाय बताइये जिससे प्रजा शीघ्र संकटमुक्त हो सके।

धर्म०—निस्सन्देह, प्रजा की चिन्ता महाराज की चिन्ता है और महाराज की चिन्ता हमारी चिन्ता है। अ····इन दिनों मैंने समस्त धर्मशास्त्रों का अवगाहन किया है।

रोम०—फिर—

धर्म०—धर्मग्रन्थों के गंभीर अध्ययन और मनन के पश्चात् आज प्रात: एक उपाय मिला है दुर्भिक्ष को दूर करने का।

रोम०— वह क्या ?

धर्म०—अ···जो पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य-व्रत पर अटल हो, उसे यदि राज्य की सीमा पर ला सकें तो, ऐसे महातपस्वी के राज्य में पदार्पण करते ही वर्षा होने लग जायगी—और······

रोम०—तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस राज्य में कोई भी पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं।

धर्म०—प्रकट है।

रोम०—अस्तु ! कुछ भी हो, हम इसका अवश्य प्रबन्ध करेंगे। अ''' महामन्त्री ! सेनाध्यक्ष को यह कार्य सौंपा जाय, और उससे कहा जाय कि यह कार्य अत्यन्त शीघ्र होना चाहिए।

महा०—जो आज्ञा।

रोम०—प्रिय प्रजाजनो ! आप लोग चिन्ता न करें। जब तक दुर्भिक्ष दूर नहीं होता तब तक प्रजा के हर प्राणी का पालन-पोषण राज्य की ओर से होगा। आप लोग उस महाप्रभु से सुवृष्टि के साथ-साथ यह भी माँगे कि राजा अपने कर्तव्य-पालन में सर्वथा समर्थ हो सके—

समवेत स्वर—महाराज की जय हो ! अङ्गनरेश की जय हो !!

(प्रस्थान)

---

(३)

रोमपाद—(उसी बरामदे में) महामन्त्री ! सेनाध्यक्ष नहीं लौटे अभी तक ?

महामन्त्री—महाराज ! उन्हें श्रीमान् का आदेश तो......

द्वारपाल—(प्रवेश कर के) महाराज की जय हो !

रोम०—क्या है दौवारिक ?

द्वार०— महाराज ! सेनाध्यक्ष पधारे हैं।

रोम०—मान पूर्वक ले आओ भीतर।

द्वार०—जो आज्ञा (प्रस्थान)—

सेनाध्यक्ष—(प्रवेश करके) महाराज की जय हो !

रोम०—आओ वीरवर ! कहो, सफलता मिली ?

सेना०—सफलता तो श्रीमान् के चरणों में निवास करती है महाराज !

रोम०—साधु !—कहां पर मिला मेरी प्रजा का जीवनदाता ?

सेना०—महाराज ! अपनी सीमा के निकटवर्ती मगध के तपोवन में एक अत्यन्त तेजस्वी महर्षि विभाण्डक हैं—

रोम०—हां-हां, वे ब्रह्मा के समान—

सेना०—उनके आत्मज ऋष्यशृङ्ग ।

रोम०—ऋष्यशृङ्ग ?

सेना०—हां महाराज ! वे पूर्ण ब्रह्मचारी हैं । महर्षि गौतम का कथन है कि उन्हें स्त्रियों के अस्तित्व तक का ज्ञान नहीं ।

रोम०—ये महर्षि गौतम कौन ।

सेना०—ये भी उसी तपोवन में वास करते हैं, विभाण्डक के परम-मित्र हैं । इन्हीं की सहायता से तो हमें सफलता मिली है ।

रोम०—(सोचते हुए) ऋष्यशृङ्ग !

सेना०—आज्ञा हो तो, ले आएँ उन्हें ?

रोम०—नहीं ! महर्षि विभाण्डक, सुना है बहुत क्रोधशील हैं । किन्तु······किन्तु, ऋष्यशृङ्ग को फिर—

महा०—अवज्ञा न हो तो कुछ निवेदन करूँ ?

रोम०—कहिये-कहिये !

महा०—राजकीय नर्तकियों को यह कार्य क्यों न सौंपा जाय ?

रोम०—अ···(सोचकर) विचार तो सुन्दर है पर···परन्तु महर्षि ने क्रोध में आकर शाप दे दिया तो—

महा०—तो हम क्षमा—

रोम०—तो भी कोई बात नहीं । अपनी प्रजा की रक्षा के लिये हम स्वयं महर्षि के शाप को स्वीकार कर लेंगे । —ठीक है, नर्तकियों को बुलवाया जाय ।

महा०—जो आज्ञा (ताली बजाता है, नूपुरों की ध्वनि आनेलगती है नेपथ्य से । ध्वनि निकटतर आती जा रही है)

रोम०—ओह ! तो आपने पहले से ही प्रबन्ध कर रखा है ?

उर्वशी—(प्रवेश करके) महाराज की जय हो । अहोभाग्य ! जो महाराज ने हम सेविकाओं को अकस्मात् स्मरण किया । किस देश का नृत्य उपस्थित करने की आज्ञा है हमें इस समय ?

रोम०—इस समय किसी भी नृत्य गायन की आवश्यकता नहीं । एक भारी संकट में हैं और तुम्हीं इस संकट को दूर कर सकती हो ।

उर्वशी—यह तो अन्नदाता की अनुकम्पा मात्र है अन्यथा हम तुच्छ गणिकाएँ किस योग्य हैं।

रोम०—तुम्हारी कला की इस समय आवश्यकता है।

उर्वशी—हमारा तन-मन-धन सदा आपके चरणों में है श्रीमान !

रोम०—बात यह है उर्वशी ! अनावृष्टि के कारण राज्य में दुर्भिक्ष का प्रकोप हो गया है ! कृषि सब नष्ट हो गई है, और तुम जानती हो कृषि ही हमारा जीवन है—

उर्वशी—निस्सन्देह महाराज !

रोम०—कृषि के न होने से हमारी प्रजा व्याकुल हो रही है। प्रजा की व्याकुलता हमारी व्याकुलता है—

उर्वशी—और महाराज की व्याकुलता हमारी व्याकुलता है—

रोम०—हाँ, तो इस व्याकुलता को तुम दूर कर सकती हो। तुम मेरी प्रिय प्रजा की रक्षा कर सकती हो, हमें शान्ति-प्रदान कर सकती हो।

उर्व०—दासी सर्वथा उद्यत है महाराज ! आज्ञा कीजिये।

रोम०—मगध के तपोवन में एक ऋष्यश्रृङ्ग हैं, येनकेनापि उन्हें अपने राज्य में अवश्य और शीघ्र लाना है।

उर्व०—ऋषिकुमार ! ···प···र···न्तु···

रोम०—हम समझते हैं कि कार्य जटिल है और विघ्न-बाधाओं से रहित नहीं है···तभी तो राजनर्तकी उर्वशी को सौंपा गया है—क्यों महामन्त्री !

महा०—उचित है महाराज ! और फिर यह जनता की सेवा ही तो है।

रोम०—हाँ, सहस्रों-लाखों को जीवन दान देना, इस महान् श्रेय को कर कितनी पुण्यवती बनोगी तुम उर्वशी ?

उर्व०—दासी आज्ञा का पालन करेगी महाराज !

रोम०—साधु ! हमें तुम से यही आशा थी। अ···सेनाध्यक्ष जी उर्वशी को तपोवन का पूर्ण-परिचय दे दिया जाय। अ···महामंत्री

नर्तकी को जो और जितनी सामग्री अपेक्षित हो, उसका पूरा-पूरा प्रबन्ध शीघ्र हो जाना चाहिये। जाओ उर्वशी ! भगवान् तुम्हारा कल्याण करें।

उर्व०—जो आज्ञा महाराज ! (प्रस्थान)

(विभाण्डक का आश्रम । प्रातःकाल का समय)

ऋष्य शृङ्ग—(सूर्य को जलार्घ देते हुए)

नमः कर्म निधानाय नमः सुकृत साक्षिणे ।
नमः प्रत्यक्ष देवाय भास्कराय नमो नमः । सूर्याय नमः,
भास्कराय नमः रुद्राय नमः कर्मसाक्षी भव ।

विभाण्डक—(प्रवेश करके) ऋष्य बेटा ! सन्ध्या समाप्त हो गई तो आओ पाठ पढ़ लो ।

ऋष्य०—(वाटिका में से ही) आया पिता जी ! (कहते ही प्रवेश करता है) प्रणाम पिता जी !

विभा०—कीर्तिवान् भव ! बैठो। (ऋष्य बैठता है) हाँ, तो कल उदान पर पाठ स्थगित किया था न ?

ऋष्य०—जी !

विभा०—तो निश्चय ही यह उदान प्राण तेज है ! जिसका यह उदान प्राण शिथिल हो जाता है या शान्त हो जाता है, वह पुनः जन्म-मरण के चक्र में भ्रमणशील रहता है ।

ऋष्य०—जी।

विभा०—जैसा चित्र होगा वैसी ही तुम्हारी वासनाएँ या भावनाएँ होंगी, और तदनुकूल ही तुम्हें शरीर मिलेगा ।

ऋष्य०—ऐसी अवस्था में चित्त का निर्मल होना आवश्यक होता है।

विभा०—निस्सन्देह ! इस उदान-प्राण के जागृत रहने से चित्त निर्मल रहता है। भाव एवं वासनाएँ शुद्ध रहती हैं । मनोवृत्तियां शान्त रहती हैं—

ऋष्य०—और उदान-प्राण को किस प्रकार जागृत रखा जाता है ?

विभा०—ब्रह्मचर्येण तपसा—ब्रह्मचर्य की साधना से ऊर्ध्वरेता ब्रह्म-

चारी उस पर ब्रह्म का साक्षात्कार तक करने में क्षमत्व रखता है। ब्रह्मचर्य ही एक मात्र चित्त को निर्मल तथा शान्त रखने का महान्तम साधन है समझे ?

ऋष्य०—जी !

विभा०—अस्तु ! मैं अब महर्षि गौतम के आश्रम को जाता हूँ । तुम उधर वाटिका में जाकर बैठ जाओ, और मेरे प्रत्यावर्तन तक वहीं बैठे स्वाध्याय करते रहना ।

ऋष्य०—जो आज्ञा (जाने लगता है)

विभा०—और हाँ, समय रहते ही अग्निहोत्र की सामग्री जुटा लेना !

ऋष्य०—जो आज्ञा ! (प्रस्थान)—

विभा०—अ···ताम्रकलश भी लेता ही चलूँ, आते समय—

गौतम—(प्रवेश करके) नमस्कार मित्रवर !

विभा०—नमस्कार गौतम जी ! मैं आप ही की ओर जा रहा था। आइये, आइये—विराजिये !

गौतम—मैंने सोचा ! आप तो क्या ही आएँगे, मैं ही दर्शन कर आऊँ !

विभा०—बड़ी कृपा करते हैं आप ।

गौतम—मैं तो गत अष्टमी को आ रहा था किन्तु कुछ अतिथि आ गए थे अतः—

विभा०—बहुत भाग्यशील हैं आप ! इस मास में तो दो बार अतिथि सत्कार कर लिया आपने । —हाँ, कौन थे ये लोग ?

गौतम—अंगराज के कुछ व्यक्ति थे—

विभा०—रोमपाद के ?—राजपुरुषों का तपोवन से क्या प्रयोजन ? वन में मृगयार्थ आए होंगे, और भूले से इधर आ निकले होंगे।

गौतम—नहीं, यह बात नहीं। वे किसी पूर्ण ब्रह्मचारी की खोज में थे।

विभा०—ब्रह्मचारी की खोज में, क्यों ?

गौतम—कहते थे अपने देश में पड़े दुर्भिक्ष को दूर करने के लिये—

विभा०—तो ब्रह्मचारी वहाँ क्या करेगा ?

गौतम—उन्हें किसी धर्मशास्त्री ने बताया है कि राज्य में किसी पूर्ण ब्रह्मचारी के आने से दुर्भिक्ष दूर होगा !

विभा०—ओह यह बात है ! (चौंककर) किन्तु…किन्तु आपने कहीं ऋष्य का नाम निर्देश—

गौतम—कर तो दिया है मैंने। आप ही बताइये, ऐसा ब्रह्मचारी उन्हें अन्यन्त्र कहीं मिल सकता था जिसे स्त्री के अस्तित्व तक का ज्ञान नहीं ?

विभा०—महान् अनर्थ कर दिया आपने। जिसका मुझे भय था वही हुआ।

गौतम—इसमें हानि क्या हुई ?

विभा०—आप नहीं समझते मित्रवर ! मैं इसके चरित्र को इतना ऊँचा बनाना चाहता हूँ कि आने वाली भारतीय संतानें इसे आदर्श मान कर अपने चरित्र का भव्य निर्माण कर सकें।

गौतम—यही तो भ्रम है आपका। जिस चरित्र का निर्माण केवल स्वयं के लिये हो वह चरित्र मूल्यहीन है और उसका निर्माण व्यर्थ है। चरित्र का निर्माण स्वार्थ के लिये नहीं, परार्थ के लिये होना चाहिये। मैं पूछता हूँ—ऋष्यश्रृङ्ग के कारण यदि सहस्रों लाखों प्राणियों को जीवन मिलता है तो ऋष्यश्रृङ्ग के चरित्र में कोई क्षति आ जायगी क्या ? अपितु मेरे विचार में ऐसा करने से उसका चरित्र महा मूल्यमान् हो जायगा। अत: उसे भेजने में कोई हानि नहीं।

विभा०—(सोचते हुए) हानि नहीं;—महर्षिवर ! आपको विदित है मैं निरन्तर छब्बीस वर्षों से इस कठिन तपस्या में निरत हूँ। चार मास का अबोध शिशु था जब इसकी माता का देहान्त हुआ। तब से लेकर आज तक मैंने उत्तरोत्तर इसके चरित्र को उत्तम बनाने का प्रयास किया, अपितु बनाया। इसे इन्द्रिय-जन्य सुख से सदा दूर रखा; यहाँ तक कि इस आयु में भी मेरे अतिरिक्त यह अन्य किसी मनुष्य को नहीं पहचानता। स्त्री और पुरुष के भेद तक का इसे ज्ञान नहीं, फिर……

गौतम—यही तो मैं सदा से कहता आ रहा हूँ कि आप जो शिक्षा उसे दे रहे हैं उसकी पद्धति उपयुक्त नहीं। आम के तरु के विषय में पाठ पढ़ाने के साथ-साथ बालक को यदि आम्र-वृक्ष समक्ष दिखला दिया जाय तो वह पाठ को शीघ्र और सरलता से समझ लेगा, और उसे कभी भूलेगा नहीं। सिद्धान्त की अपेक्षा अनुभव का अधिक महत्व होता है महात्मन् !

विभा०—मैं नहीं मानता ! जीवन को चलाने के लिये कुछ मार्ग ऐसे भी हो सकते हैं, और हैं कि जिन पर चलने के लिये अनुभव की आवश्यकता नहीं होती। ऋष्यशृङ्ग को मैंने उसी सरणी पर चलाया है और वह चल रहा है।

गौतम—अस्तु ! जैसी आपकी इच्छा। परन्तु—

विभा०—अरे ! फल देना भूल ही गया !

गौतम—इसकी आवश्यकता नहीं इस समय...अच्छा, तो आज्ञा दें—अब चलूँ।

विभा०—मैं भी चलता हूँ, तनिक नदी तक जाना है।

गौतम—आइये फिर !

विभा०—चलिये—(दोनों उठकर वाटिका द्वार की ओर से जाने लगते हैं जहां ऋष्य बैठा पाठ स्मरण कर रहा है।)

ऋष्य०—(गौतम को देखकर) प्रणाम ऋषिवर !

गौतम—ओह, ऋष्य बेटा ? कल्याण हो !—हे हे हे हे (दोनों ऋषि हँसते हुए प्रस्थान करते हैं।)

ऋष्य०—(पाठ स्मरण करते हुए) ब्रह्मचर्येण तपसा-ब्रह्मचर्येण तपसा।

उर्वशी—(ब्रह्मचारी के वेश में दूर से गाती हुई) नृत्यतु नृत्यतु-नृत्यतु रे मानस मयूर ! गायतु गायतु गायतु रे मानस मयूर !!

ऋष्य०—(स्वगत) कितना मधुर स्वर है—किसका स्वर, कहां से आ रहा है—(खड़ा होकर देखता है) सामने तो कोई भी नहीं ? (गीत उभरता है) स्वर कुछ स्पष्ट सा हो रहा है।

उर्वशी—(निकट आकर) ऋषिकुमार ऋष्यशृङ्ग, प्रणाम ! सकुशल तो हैं आप ?—स्वाध्याय हो रहा है क्या ?—आप मौन क्यों हैं ?

ऋष्य०—आ······प·······

उर्व०—मैं भी एक ऋषिकुमार हूँ, ब्रह्मचारी हूँ।

ऋष्य०—आ, प···आ···प के शरीर से एक आभा सी फूट रही है। आप कौन हैं ? मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आपका आश्रम कहाँ है आप कौन सा व्रत······

उर्व०—यहाँ तीन योजन की दूरी पर हमारा आश्रम है।

ऋष्य०—भीतर आ जाइये न !

उर्व०—हां, (द्वार से प्रवेश कर वाटिका में आ जाती है) मैंने सोचा आपके दर्शन कर आऊँ। (सुगन्धित पुष्पमाला उसके कण्ठ में डालती है) मेरा प्रणाम स्वीकार करें—(दोनों बैठ जाते हैं)।

ऋष्य०—ओह ! कितनी मादक गन्ध है इन फूलों की।

उर्व०—(अपना बाहु युगल उसके कण्ठ में डालकर) हां, आपके यहां भी तो पुष्प हैं—

ऋष्य०—किन्तु इनकी गन्ध—

उर्व०—मादक नहीं—(आँखों में आँखें डालकर) आप कितने अच्छे हैं ऋषिकुमार—

ऋष्य०—(अपना बायाँ हाथ उसकी पीठ पर रखकर) ये आपके नयन कितने सुन्दर हैं ?

उर्व०—(मस्ती से) हाँ, इन्हें नीलकमल ने बनाया है।

ऋष्य०—कितना तेज है इनमें—

उर्व०—नक्षत्रों ने प्रदान किया है—(चौंककर) ओह ! बहुत विलम्ब हो गया। मुझे अभी अग्निहोत्र करना है—कभी आप भी हमारे आश्रम पर आइये न ?—

ऋष्य०—अवश्य—

उर्व०—अच्छा, तो आज्ञा दीजिये, नमस्कार ! (प्रस्थान करती है)

ऋष्य०—नमस्कार !—(स्वगत) कितना सुख था उसके प्रणाम करने में, कितना मधुर है प्रणाम का ढंग—

(जलकलश उठाए हुए विभाण्डक प्रवेश करते हैं)

विभा०—(कलश रखते हुए) मित्रवर गौतम ने अच्छा नहीं किया ! (कहते हुए वाटिका में जाते हैं) पाठ स्मरण कर लिया बेटा ! (निकट आकर) अरे, तुम्हें यह पुष्प माला किसने पहनाई ? बहुत मादक गन्ध आ रही है। (इधर-उधर देखकर) ये कोमल पौधे टूटे पड़े हैं। यहाँ कोई आया था क्या ?

ऋष्य०—पिता जी, अलौकिक रूप वाले ब्रह्मचारी आए थे। उनका तेज, उनकी मधुर वाणी का कैसे वर्णन करूँ। उनके नेत्रों ने मेरी अन्तरात्मा में न जाने कैसा अनिर्वचनीय आनन्द और स्नेह भर दिया है।

विभा०—(सोचते हुए) हुं !

ऋष्य०—पिता जी, जब उन्होंने मुझे अपनी कोमल भुजाओं से आलिंगन में ले लिया, तब मुझे एक अलौकिक सुख का अनुभव हुआ।

विभा०—(धीरे से) समझा !

ऋष्य०—मेरा शरीर मानों जल रहा है। मेरे मन में ब्रह्मचारी के पास जाने की प्रबल इच्छा हो रही है। आप उन्हें यहाँ बुलाइएगा पिता जी !

विभा०—बेटा, यह किसी राक्षस की माया है। यह माया सत्य-पथ से डिगाने वाली है। राक्षस लोग तरह-तरह की चालें चलते हैं इनसे सावधान रहना, निकट न आने देना—

ऋष्य०—किन्तु पिता जी—

विभा०—किन्तु-परन्तु कुछ नहीं, मैंने कह दिया न, इस माया जाल से बच कर रहना—चलो मेरे साथ, नदी पर स्नान करके आओ।

ऋष्य०—जो आज्ञा।

(दोनों का प्रस्थान)

———

(५)

(अंगनरेश के नदी तीर वाले प्रासाद का वह भाग जो नदी की ओर है। तट पर स्फटिक की सीढ़ियां हैं जो ऊपर बरामदे तक जाती हैं। बरामदे में अंगराज अपने प्रधान अधिकारियों के साथ बैठे हैं। जनता की अपार भीड़ लगी है। दूर से नदी में नाव पर बनी हुई कृत्रिम वाटिका आती हुई दिखाई देती है। आकाश पर मेघ गरजने लगते हैं।)

उर्व०—(तट पर पहुँच कर) रंभा! बजरे को राजघाट पर लगाओ। अ···ऋषि कुमार! कुछ आनन्द आया भ्रमण का? (मेघ गरजते हैं)

ऋष्य०—हम कहाँ आ गए?—यह सब क्या है? (कुछ बूंदें पड़ने लगती हैं) ओह, वर्षा आ गई।

उर्व०—हां, और मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई।

ऋष्य०—प्रतिज्ञा?—(बजरा तट पर लगता है)

उर्व०—आइये, तनिक आश्रम से बाहर आ जाइये।

ऋष्य०—चलो। तुम्हारे वचन का पालन करने में मुझे सुख मिलता है। तुम आनन्दमय हो ब्रह्मचारी!

उर्व०—यह तो आपकी महानता है अन्यथा मैं— (दोनों तट पर उतरते हैं। सुवृष्टि होने लगती है)—

ऋष्य०—यह तो वर्षा होने लग गई!

उर्व०—चिन्ता की कोई बात नहीं, मैं आप के साथ हूँ।

ऋष्य०—किन्तु पिता जी—

उर्व०—वे भी यहीं आ जायेंगे। (जनता ऋषि कुमार ऋष्यशृङ्ग का जयघोष करती है।)

समवेत—ब्रह्मचारी ऋष्यशृङ्ग की जय! ब्रह्मचारी ऋष्यशृङ्ग की जय!!

उर्व०—(आगे बढ़ कर) महाराज की जय हो! दासी उपस्थित है।

रोमपाद—उर्वशी! तुम महान् हो। तुम्हारा कार्य महानतम है। तुम ने समाज की सच्ची सेवा करके एक बहुत ऊँचे आदर्श की स्थापना की है। हम तुम पर बहुत प्रसन्न हैं।

उर्व०—यह सब आप की अनुकंपा है। अ······आप हैं ब्रह्मचारी ऋष्यशृङ्ग। अ···आगे आइये न मित्र !

रोम०—रोमपाद प्रणाम करता है ब्रह्मचारिन् ! आइये, आसन ग्रहण कीजिये।

ऋष्य०—(चकित स्तंभित सा) यह सब क्या है, मुझे यहाँ क्यों लाए हो ?

उर्व०—(अपने उर्वशी के रूप में) अब आप को यहीं रहना होगा।

ऋष्य०—नहीं, यह सब प्रपंच है, माया-जाल है। राक्षसी माया-जाल।

रोम०—आप विराजिये तो—

ऋष्य०—नहीं मैं यहाँ एक क्षण नहीं ठहरूँगा। पिता जी सत्य कहते थे। यह कपट है, मुझे प्रवंचित किया गया है—

उर्व०—(कंधे पर हाथ रख कर) सुनिये तो मित्रवर ! आप के यहाँ आने से लाखों प्राणियों को जीवन मिला। आपने हमारे देश के असंख्य लोगों को मृत्यु से बचाया, हमारे पशु धन की रक्षा की—

ऋष्य०—मैंने रक्षा की, मैंने जीवों को बचाया, वह कैसे ?

उर्व०—यह सब बताएँगे, तनिक विश्राम कर लीजिये। आइये—

रोम०—आइये, पधारिये !

ऋष्य०—परन्तु पिता जी।

रोम०—सब ठीक हो जायगा, आइये ! (जय घोष में ऋष्यशृङ्ग राज-प्रासाद में प्रवेश करता है।)

———

महामन्त्री—इसकी चिन्ता न करें महाराज ! सब प्रबन्ध कर दिया गया है।

रोम०—हम भी सुनें—

महा०—तपोवन से लेकर राजप्रासाद तक के समस्त मार्ग में यत्र तत्र सहस्रों गोपालों को गो-वृषों के साथ ठहरा दिया गया है, और आदेश कर दिया गया है कि ऋषिवर का पूर्ण रूपेण आदर-सत्कार किया जाय। जब वे राज्य में पधारें तो कुमार ऋष्यशृङ्ग की महानता और उनकी उदारता को भली प्रकार से अभिव्यक्त किया जाय—

रोम०—ऐसा करने से—

महा०—ऐसा करने से मुनिराज का क्रोध शान्त हो जायगा, और—

रोम०—उपाय तो उत्तम है।

विभाण्डक—(दूर से आते हुए) अधर्मी अंगराज ने मेरी वर्षों की तपस्या और साधना को भ्रष्ट कर दिया। मैं उसका सत्यानाश करके रहूँगा।

रोम०—वे तो क्रुद्ध ही प्रतीत होते हैं महामंत्री !

महा०—आप चिन्ता न करें।

विभा०—(निकट आकर) अधम ! मैं तुम्हारे पितरों तक को नरक में गिरा दूँगा।

रोम०—रोमपाद प्रणाम करता है मुनिवर ! शान्ति से विराजिये तो—

महा०—प्रणाम ऋषिराज ! हम आपका स्वागत करते हैं। आइये, आसन ग्रहण कीजिये—

विभा०—मैं अधर्मी और अन्यायी नृप के आसन को स्पर्श करना भी पाप समझता हूँ—

महा०—किन्तु यह सब तो आप ही के पुत्र की संपत्ति है, ऋष्यशृङ्ग की—

विभा०—यह सब कुछ मैं सुन चुका हूँ मार्ग में। मुझे प्रतारित करने का यत्न मत करो—

महा०—ऋष्यश्रृङ्ग ने क्या बुरा किया है ? लाखों प्राणियों को जीवन-दान दिया है उन्होंने ! ये लहलहाते खेत, ये विचरते हुए पशु, यह हर्षोल्लसित प्रजा सब आपके पुत्र का और आपके चरणों का ही पुण्य प्रताप है। ऋष्यश्रृङ्ग ने महान् उपकार किया है। आप की तपस्या भ्रष्ट नहीं, अपितु सुफल हुई है—

विभा०—नहीं, यह पाप है अधर्म है।—(रुक कर) हैं। क्या कहा, 'उपकार किया है' ? सब लोग यही कहते हैं—ऋष्य ने महान् उपकार किया है ?—ऋष्यश्रृङ्ग ने प्राणियों को जीवन दान दिया है ?—ठीक है, सत्य है, ऋष्य ने उपकार किया है, महान् उपकार किया है, मेरी तपस्या को उसने शुद्ध एवं उज्ज्वल किया है। ऋष्य ने उपकार किया है, अंगराज ने महान् उपकार किया है।—अंगराज ! कहाँ है मेरा आत्मज—

ऋष्य०—(पत्नी सहित प्रवेश करके) ऋष्यश्रृङ्ग प्रणाम करता है जी !

विभा०—यशस्वी भव ! (ऋष्यपत्नी ऋषिराज के चरणों पर झुककर प्रणाम करती है।)—यह कौन है बेटा !

रोम०—शान्ता, मेरी कन्या और आप की पुत्रवधू।

विभा०—ओह ! सौभाग्यवती हो बेटी !—बेटा श्रृङ्ग । स्मरण है एक दिन तुम ने पूछा था—स्त्री क्या होता है ?

ऋष्य०—पिता जी !

विभा०—अब तुम भली प्रकार जान जाओगे कि स्त्री क्या होता है।—(सभी हँसते हैं)—अस्तु ! मैं चला, स्वस्त्यस्तु ! (प्रस्थान)